शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बालचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

जून : १९६२ ☆ वर्ष अठारहवाँ, ज्येष्ठ, वीर नि०सं० २४८८ ☆ अंक : २

रत्नों की खान

जिसप्रकार रत्नों की खान से रत्न निकलते हैं, उसीप्रकार आत्मा चैतन्य रत्न की ध्रुव खान है, उसमें से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्न निकलते हैं; किन्तु जिसप्रकार लोहे की खान में से हीरे नहीं निकलते, उसीप्रकार विकार की खान को खोदे तो उसमें से सम्यग्दर्शनादि रत्न नहीं निकल सकते, इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीव! अपने अंतरस्वभाव की गहराई में उतरकर चैतन्य रत्नों की ध्रुव खान में से सम्यग्दर्शनादि रत्न निकाल!

(प्रवचन से)

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[२०५]

एक अंक
चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

जैनदर्शन शिक्षण वर्ग

इस साल जैन भाईयों के लिए ता० ५-८-६२ से ता० २४-८-६२ तक (जो हर साल श्रावण मास में चलता है) जैन दर्शन शिक्षण वर्ग चलेगा। उसका लाभ लेने के इच्छुक जिज्ञासुओं को सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी द्वारा दि० जैनधर्म के मूल सिद्धान्तों के रहस्यमय प्रवचनों का भी लाभ मिलेगा। आनेवाले जिज्ञासुओं के ठहरने-जीमने की व्यवस्था संस्था की ओर से होगी। जिनकी आने की भावना हो, वे पहले से ही सूचित करें।

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

(नया प्रकाशन)

अपूर्व अवसर

(श्रीमद् राजचन्द्रजी कृत एक महान काव्य) इस पर पूज्य कानजी स्वामी के प्रवचन हिन्दी में छपकर तैयार हो गया है, सजिल्द है। मूल्य लागत से भी कम ८५ नये पैसे मात्र। पोस्टेज अलग। जिन्हें आवश्यकता हो वे शीघ्र मंगवा लेवें।

श्री समयसारजी (परमागम शास्त्र)

सुन्दर ढंग से छप गया है, इस ग्रंथ में गाथाएँ रंगीन स्याही से छपी हैं, कई मुख्य गाथाएँ सुनहरी स्याही से छपी हैं, बढ़िया कागज पर छपने पर भी मूल्य लागत से कम रख रहे हैं। इसमें सिर्फ प्रस्तावना आदि बाकी हैं जो छप रही हैं, बाइंडिंग होकर करीब १५ दिन में तैयार मिलेगा। ग्राहकगण धैर्य रखें।

मंगाने का पता—**श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट**
पो० सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : जगजीवन बालचंद दोशी (सावरकुंडला) 卐

जून : १९६२ ☆ वर्ष अठारहवाँ, ज्येष्ठ, वीर नि०सं० २४८८ ☆ अंक : २

तत्त्वदृष्टि से देखने पर क्या दिखता है ?

समयसार गाथा ३७२ में यथार्थ वस्तुस्थिति प्रसिद्ध करके आचार्यदेव कहते हैं कि—हे जीवों! तुम इसप्रकार जानो, ऐसी वस्तुस्थिति जानने से तुम्हारा अज्ञान अस्त हो जायेगा.... और अपूर्व ज्ञानप्रकाश प्रगट होगा।

[उपरोक्त गाथा पर पूज्य गुरुदेव का प्रवचन]

यहाँ आचार्यदेव महासिद्धान्त समझाते हैं कि—भाई, तेरी पर्याय के उत्पाद में परद्रव्य किंचित् प्रतिभासित नहीं होता। जगत में कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य की पर्याय को उत्पन्न नहीं कर सकता। परद्रव्य, रागादिक उत्पन्न करते हैं—ऐसा देखना, सो तत्त्वदृष्टि नहीं है, क्योंकि तत्त्वदृष्टि से देखने पर राग-द्वेष को उत्पन्न करनेवाले अन्यद्रव्य किंचित् दिखाई नहीं देते; सर्व द्रव्यों की (पर्यायों की) उत्पत्ति अपने स्वभाव से ही होती हुई अंतरंग में अत्यन्त प्रगट प्रकाशमान होती है।

देखो, यह तत्त्वदृष्टि! भाई, एकबार निर्णय तो कर कि उस-उस पर्यायरूप परिणमित होना, वह तेरा अपना धर्म है; कहीं परद्रव्य तेरी पर्याय को उत्पन्न नहीं करता। परद्रव्य, राग कराते हैं—ऐसा देखनेवाले जीव को तत्त्वदृष्टि की खबर नहीं है। यह तो जगत में अत्यन्त प्रगट दिखाई देता है कि प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभाव से ही अपनी पर्यायरूप उत्पन्न होता है। भगवन! अपने बंध में या मोक्ष में तू अकेला ही है; अपनी प्रज्ञा के अपराध से ही तूने संसार में परिभ्रमण किया है और अपनी प्रज्ञा के गुण से ही मोक्ष प्राप्त करता है। तेरे सुख को या दुःख को अन्य कोई उत्पन्न नहीं

करता। आचार्यदेव गाथा में स्पष्टरूप से वस्तुस्थिति प्रकाशित करते हैं कि—

अन्यद्रव्येणान्यद्रव्यस्य न क्रियते गुणोत्पादः।
तस्मात्तु सर्वद्रव्याण्युत्पद्यंते स्वभावेन॥३७२॥

अर्थ—अन्य द्रव्य से अन्य द्रव्य की पर्याय की उत्पत्ति की जाये, ऐसा नहीं है; इसलिये ऐसा सिद्धान्त है कि सब द्रव्य अपने स्वभाव से ही उत्पत्ति करते हैं।

रागादिभाव, जीव के स्वभाव में नहीं हैं और परद्रव्य में भी नहीं हैं तथा अन्य द्रव्य से अन्य द्रव्य के गुण या पर्याय उत्पन्न नहीं किये जा सकते। सर्वद्रव्य अपने-अपने स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं—यह सिद्धान्त है। इसलिये परद्रव्य जीव को रागादिक उत्पन्न करते हैं—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये। किसी भी वस्तु में ऐसी योग्यता नहीं है कि वह पर की अवस्था को उत्पन्न कर सके। अपनी पर्यायरूप जो अपना स्वभाव, उसरूप वस्तु स्वयं ही उत्पन्न होती है। क्या परद्रव्य रागरूप से उत्पन्न होते हैं ?—नहीं; तो फिर परद्रव्य, जीव को राग किस प्रकार उत्पन्न करेंगे ?—निःशंकरूप से ऐसी प्रतीति करना चाहिये कि मेरी पर्याय में परद्रव्य कुछ भी नहीं कर सकते और रागादि भी कहीं परद्रव्य को उत्पन्न नहीं करते; राग का उत्पाद कहीं पुद्गलरूप से दृष्टिगोचर नहीं होता। रागरूप से उत्पन्न होता हुआ कौन दिखाई देता है ?—जीवद्रव्य स्वयं उस पर्यायरूप से उत्पन्न होता दिखाई देता है ?—इसप्रकार स्वतंत्र उत्पाद को देखनेवाले की दृष्टि द्रव्य की ओर बढ़ती हैं।

घड़े की उत्पत्ति मिट्टी के रूप में दिखाई देती है, किन्तु कुम्हार के रूप में दिखाई नहीं देती। कुम्हार में क्रोध या उष्णता हो तो वह कहीं घड़े में नहीं आ जाते; घड़ा तो ठण्डे स्वभाव का ही होता है। इसप्रकार मिट्टी अपने कुम्भभावरूप से ही उत्पन्न होती है, किन्तु कुम्हार के स्वभावरूप से उत्पन्न नहीं होती। इसप्रकार द्रव्य के परिणाम का उत्पाद अपने स्वभावरूप से ही दृष्टिगोचर होता है। देखो, यह वस्तु स्वरूप को देखने की रीति। किसी भी वस्तु को देखने से वह अपने स्वभावरूप से उत्पन्न होती हुई दिखाई देती है; अपने स्वभाव का उल्लंघन करके परद्रव्यरूप से उत्पन्न होती हुई कोई वस्तु दिखाई नहीं देती।

भाई, तू विचारपूर्वक देख तो सही कि इस जगत में स्वपरिणामपर्यायरूप से उत्पन्न होती हुई सर्व वस्तुएँ अपने-अपने स्वभावरूप ही उत्पन्न होती हैं या अन्य द्रव्य के स्वभाव से ? तू तत्त्वदृष्टि से (अर्थात् संयोगी दृष्टि से नहीं किन्तु वस्तु के स्वभाव की दृष्टि से) देख तो सर्व द्रव्यों को अपनी-अपनी पर्यायों की उत्पत्ति अपने-अपने स्वभाव से ही होती हुई अंतर में अत्यन्त स्पष्ट

दिखाई देती है—परद्रव्य द्वारा किसी की अवस्था होती हुई किंचित् दिखाई नहीं देती। अहा! ऐसी वस्तुस्थिति का निर्णय करे तो ज्ञान कितना धीर हो जाये! और ज्ञान धीर होकर अन्तरोन्मुख हो तथा राग से पृथक् हो तो राग का भी अकर्तृत्व होकर वीतरागी मोक्षमार्ग की आराधना प्रगट हो।

निमित्तभूत जो अन्य द्रव्य है, उसका स्पर्श किये बिना ही प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्यायरूप से उत्पन्न होता है। भाई, तेरी पर्याय निमित्त का स्पर्श करती ही नहीं, और निमित्त तेरी पर्याय का स्पर्श नहीं करते तो फिर निमित्त तेरी पर्याय में कुछ करे, यह बात कहाँ रही? कर्म तेरी पर्याय का स्पर्श ही नहीं करता तो फिर तुझे वह क्या करेगा? राग-द्वेष-मोह की उत्पत्ति हो, वह तेरा ही अपराध है; उसमें दूसरे का अपराध हमें जरा भी दिखाई नहीं देता। तू अपने चिदानन्दस्वभाव का स्पर्श करके (-उसी का आश्रय करके, उसे श्रद्धा-ज्ञान में लेकर) परिणमित हो तो तेरी पर्याय में सम्यग्दर्शनादि का उत्पाद हो। स्वयं अंतरोन्मुख न हो और बहिर्मुखरूप से राग-द्वेष-मोहरूप से स्वयं ही परिणमित हो, उसमें परद्रव्य का क्या दोष? परद्रव्य कहीं जीव को रागादि नहीं कराते कि जिन पर क्रोध किया जाये। जिसे तत्त्वदृष्टि नहीं है, वही कर्म का दोष निकालकर उस पर क्रोध करता है और ज्ञानी तो तत्त्वदृष्टिपूर्वक रागादि से अपना ही अपराध जानता हुआ, ज्ञायकस्वभाव के अवलम्बन के बल से उन रागादि का क्षय कर डालता है।

आचार्यदेव कहते हैं कि अहो! ऐसे भेदज्ञान द्वारा यथार्थ वस्तुस्थिति विदिति होओ.... और अज्ञान अस्त हो जाओ! 'मैं तो ज्ञान हूँ'—ऐसे अनुभव में रागादि की उत्पत्ति नहीं होती। परद्रव्य कहीं ऐसी प्रेरणा नहीं करता कि तू मुझ पर राग कर अथवा द्वेष कर! तो फिर परद्रव्य का दोष क्यों निकाले? जीव स्वयं अपने ज्ञानस्वभाव से विमुख होकर राग-द्वेषरूप परिणमित होता है; यदि स्वयं अपने ज्ञानस्वभावोन्मुख होकर परिणमित हो तो राग-द्वेष नहीं होते। हे जीवों! तुम इस प्रकार जानो... ऐसी वस्तुस्थिति जानते ही तुम्हारा अज्ञान अस्त हो जायेगा और अपूर्व ज्ञानप्रकाश का उदय होगा।—ऐसा आचार्य भगवान का उपदेश है।

भव के नाश की भावना

[भावप्राभृत गाथा ६ से १९ तक के वैराग्य प्रेरक प्रवचनों से]

जाणहि भावं पढमं किं ते लिंगेण भावरहिएण पंथिय!
सिवपुरिपंथं जिण उवइट्ठं पयत्तेण ॥६॥

हे शिवपुरी के पथिक! तू सम्यग्दर्शनादि के भावों को जान; भावरहित अकेले बाह्यलिंग से कुछ भी साध्य नहीं है।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो शिवपुरी का पंथ है, वह प्रयत्न द्वारा सधता है—ऐसा जिनभगवन्तों ने कहा है; इसलिये हे सिद्धपद के साधक! प्रथम प्रयत्न द्वारा तू भाव को जान! सम्यग्दर्शनादि भावोंरूप मोक्षमार्ग महाप्रयत्न द्वारा सिद्ध होता है। एक स्थान पर गुरु, शिष्य से कहते हैं कि—हे शिष्य! भगवान की आज्ञा में तुझे आलस्य न हो और भगवान की आज्ञा से बाहर तेरा प्रवर्तन न हो। अब भगवान की आज्ञा क्या है? भगवान की आज्ञा तो स्वभावोन्मुख प्रयत्न करने की है; सम्यग्दर्शन भी बिना प्रयत्न के नहीं होता। चिदानन्दस्वभाव की ओर के अपूर्व प्रयत्न से ही मोक्षमार्ग सधता है। क्रमनियतपर्याय है, इसलिए पुरुषार्थ है ही नहीं—ऐसा नहीं है। क्रमनियत का निर्णय करनेवाला जीव भी ज्ञानस्वभाव की सन्मुखतापूर्वक ही वह निर्णय कर सकता है और उसमें स्वसन्मुख प्रयत्न आ ही जाता है।

आचार्यदेव कहते हैं कि—प्रथम तू सम्यग्दर्शनादि भावों को जान! किससे कहते हैं?—शिवपुरी के पथिक से कहते हैं। मीठा सम्बोधन करके आचार्यदेव कहते हैं कि—हे शिवपुरी के पथिक! हे मोक्षनगरी के प्रवासी! तू मोक्ष के कारणरूप सम्यग्दर्शनादि भावों को प्रयत्न से जान। इसके बिना द्रव्यलिंग द्वारा कुछ भी साध्य नहीं है, अर्थात् सम्यग्दर्शन के बिना पंचमहाव्रतादि भी निष्फल हैं, उनके द्वारा शिवपुरी में नहीं पहुँचा जाता... वह शिवपुरी का मार्ग नहीं है।

भगवान ने तो 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग' कहा है, किन्तु शरीर या रागमय ऐसे बाह्यलिंग को मोक्षमार्ग नहीं कहा है। भगवान ने द्रव्यलिंग की मोक्ष के साधन रूप से उपासना नहीं की किन्तु सर्व अरिहंतों ने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की ही मोक्षमार्गरूप से उपासना की है और उसी का उपदेश दिया है। इसलिए हे जीव! तू पुरुषार्थ के द्वारा ऐसे मोक्षमार्ग को जान!

हे शिवपुरी के पथिक! जिनवरों द्वारा कहे हुए प्रयत्न से तू भावलिंग को साध; सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो भावलिंग, वह अंतर्मुख प्रयत्न द्वारा साध्य है, तथा वही शिवपुरी का पंथ है। अरे पथिक! प्रथम तू पंथ को जान! मोक्ष का पंथ देह की क्रिया में नहीं है, राग में नहीं है किन्तु सम्यग्दर्शनप्रधान ऐसा जो भावलिंग, वही मोक्ष का पंथ है। सर्व भावों में सार ऐसा जो शुद्धभाव अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वही परम हितरूप है; ऐसे भाव को हे पथिक! तू प्रयत्न द्वारा साध। ऐसे शुद्धभाव के बिना रे जीव! तूने अनंतबार बाह्यलिंग ग्रहण किये और छोड़े। आचार्यदेव करुणापूर्वक कहते हैं कि हे सत्पुरुष! शुद्धभाव को जाने बिना इस संसार में परिभ्रमण करते हुए तूने मनुष्य होकर अनंतबार निर्ग्रन्थरूप तथा पंचमहाव्रत अंगीकार किये और छोड़े; तथापि शुद्धभाव के बिना तेरा कल्याण न हुआ और तू चार गति में भटकता ही रहा। जो हित साधना चाहता है, उसे सम्बोधन करके आचार्यदेव कहते हैं कि—हे सत्पुरुष! तूने शुद्धभाव के बिना चार गति में अनेकों भीषण दुःख उठाये हैं; इसलिये हे जीव! अब तो सम्यग्दर्शन प्रगट करके, तू जिनभावना भा।

भयंकर नरकगति में, तिर्यंचगति में, कुदेव और कुमनुष्यों में जीव ने घोर दुःख भोगे हैं।—क्यों? कि जिनभावना के बिना! इसलिये हे जीव! अब तो तू दुःखों से छूटने के लिये जिनभावना भा! चैतन्योन्मुख होकर निश्चय सम्यग्दर्शनादि की आराधना कर।

लक्ष्मणजी जैसे अर्धचक्री राजा, देव जिनके सहायक और मित्र थे, जिनके वैभव का पार नहीं था—इस समय नरक में हैं। सीताजी प्रतीन्द्र हुई हैं; वे लक्ष्मणजी को नरक के भीषण दुःखों से उबारने जाती हैं; किन्तु देव भी उन्हें उबार नहीं सकते; क्योंकि ज्यों ही बाहर निकालने के लिये उठाते हैं, शरीर पारे की भाँति बिखर जाता है—ऐसे नरक के दुःख इस जीव ने अनंतबार भोगे हैं। तिर्यंचगति में शूकर आदि को जिन्दा ही आग में सेक डालते हैं—ऐसे-ऐसे भीषण दुःख भोगते हुए कभी अज्ञान से किंचित पुण्य बंध करे और निम्न श्रेणी का देव हो वहाँ देवगति में अपमानादि—भयानक दुःख सहता है। धर्म का अनादर और अधर्म का आदर करके, कदाचित् किंचित् पुण्य से देव हुआ तो वहाँ बड़े देवों की आज्ञा से हाथी-घोड़ा आदि के रूप धारण करना पड़ते हैं और दूसरे देव उन पर सवारी करते हैं; इसीप्रकार मनुष्य भव में भी आत्मभान के बिना जीव ने महान दुःख प्राप्त किये हैं। इसलिये हे जीव! तू जिनभावना भा! जिनभावना अर्थात् शुद्ध आत्मा की भावना! अहा! जिनभावना तो संसार के सर्व दुःखों से छूटने का उपाय है। हे जीव! जिनभावना के बिना तूने चार गतियों के अनंत दुःख प्राप्त किये; इसलिये अब तो जिनेश्वरदेव के

मार्ग की शरण लेकर भगवान के कहे हुए शुद्धात्मा की भावना भा! शुद्धात्मा की बारम्बार भावना करने का नाम जिनभावना है; उससे संसार भ्रमण का अंत होकर मुक्ति प्राप्त होती है।

अरे, जिन्हें संसार की चार गतियों में दु:ख भी न लगता हो, संसार में ही सुख का आभास हो रहा हो—ऐसे जीव जिनभावना कहाँ से भायेंगे? बाह्य अनुकूलता में ही सुख मानते हैं, किन्तु भाई! जरा आंतरिक भावों को तो देख! अंतर में तो आकुलता की आग लग रही है। जिसप्रकार जमीन के अन्दर कोयले की खान में जो आग लगती है, वह बाहर से दिखाई नहीं देती; उसीप्रकार अंतर में आत्मभान के बिना दु:ख की भीषण आग लग रही है; उस दु:ख को अज्ञानी नहीं देखता; तो फिर उससे छूटने का प्रयत्न कहाँ से करेगा? यहाँ तो कहते हैं कि—हे सत्पुरुष! हे शिवपुरी के पथिक! जिनभावना के बिना संसार में एकान्त दु:ख है—ऐसा जानकर तू उससे छूटने के लिये जिनभावना भा!

हे जीव! तूने सात नरक-भूमि में दारुण दु:ख सहन किये हैं। कितने काल तक?—तो कहते हैं कि तैंतीस सागरोपम! अर्थात्?—दस कोड़ा-कोड़ी पल्योपम का एक सागरोपम होता है; और एक-एक पल्योपम में असंख्य अरब वर्ष होते हैं!—इस समय तो उसके अंक गिनना भी कठिन है। इतने काल तक जीव ने अनंतबार नरकों के दु:ख सहन किये हैं। जहाँ एक क्षण भी चैन नहीं है, तीव्र क्षुधा होने पर भी जहाँ करोड़ों-अरबों वर्ष तक अन्न का दाना भी नहीं मिलता; समुद्र का खारा पानी पी जाये—इतनी तृषा होने पर भी जहाँ पानी की एक बूँद भी अरबों वर्ष तक नहीं मिलती, जहाँ शीत-उष्णता इतनी है कि जिसमें मेरु पर्वत के समान लौहपिण्ड भी क्षणमात्र में गल सकता है, जहाँ की भूमि इतनी दुर्गंधियुक्त है कि उसकी मिट्टी के एक कण से भी कई योजन दूर तक के मनुष्य मर सकते हैं।—ऐसे नरकों के दु:ख जीव ने अनंतबार भोगे हैं। वहाँ से मरकर भी उन दु:खों से छूटना चाहता है, किन्तु आयु पूर्ण हुए बिना मर नहीं सकता। ऐसे असह्य दु:ख अनन्तबार भोगे हैं, हे जीव! सम्यग्दर्शन के बिना तूने ऐसे भीषण दु:ख सहन किये हैं, इसलिये अब तो सम्यग्दर्शनरूप भाव को पहिचानकर उसका प्रयत्न कर।

और तिर्यंचगति में भी हे जीव! तूने अनंत बार दु:ख सहन किये। पृथ्वीकाय में जन्म लेकर कोदाली आदि से खोदा गया; अपकायरूप से जन्म धारण किया तो अग्नि में भुनता रहा। जिसके वाणी नहीं, जिह्वा नहीं, नाक नहीं, आँख नहीं, कान नहीं.... अरे, स्वतंत्र शरीर भी जिसके नहीं है; अनंत जीवों के बीच एक ही शरीर है—आलू, शकरकन्द आदि के एक छोटे कण में असंख्य शरीर

हैं और एक-एक शरीर में अनंत जीव हैं;—वहाँ जन्म लेकर अनंतबार अग्नि में भुना। इसप्रकार चिदानन्द तत्त्व को साथ रखकर चारगतियों में भटका, किन्तु उस तत्त्व को पहिचाना नहीं। एकेन्द्रियादि में तो नरक की अपेक्षा अनंतगुना दु:ख है। इस जीव ने पानीरूप में भी जन्म धारण किया और भाजीपाले के रूप में भी! भाई! तेरे दु:ख तूने सहे हैं और भगवान ने उन्हें देखा है... अब उन दु:खों से छूटने का अवसर आया है, इसलिये अब अब तू जागृत हो! सम्यग्दर्शनादि भावों को पहिचानकर उन्हें प्रयत्न द्वारा प्रकट कर! सम्यग्दर्शनरूपी जिन भावना सर्व दु:खों से छूटने का परम उपाय है। अनंतकाल में एकेंद्रिय से बाहर निकलकर त्रसकाय धारण की और विकलेन्द्रिय हुआ—लट, कीड़ी-मकोड़ा आदि में अवतार लिया—वहाँ भी छेदन-भेदन सहन किया। कभी पंचेन्द्रिय तिर्यंच हुआ तो वहाँ भी तीव्र वेदना, भूख, तृषा आदि के दु:ख सहन किये। अनादिकाल से तूने दु:ख ही दु:ख उठाये हैं, सुख का एक कण भी प्राप्त न कर सका। अब उन दु:खों से छूटने तथा आत्मसुख प्राप्त करने के लिए तू जिनभावना भा! आत्मोन्मुख होने से ही सम्यग्दर्शन होता और तभी दु:खों से छुटकारा मिलता है—ऐसी बात भी कभी प्रीतिपूर्वक नहीं सुनी। भाई, जिसमें दु:ख की गंध भी नहीं है—ऐसे आत्मस्वभाव की रुचि कर, प्रीति कर, पहिचान कर, जिससे दु:खों का अन्त हो!

हे जीव! भव का नाश करनेवाली भावना तूने पहले कभी नहीं भायी, इसलिये चारगति के भवों में अनंतकाल से भटक रहा है। अनंतकाल में कभी मनुष्य हुआ, तब भी आकस्मिक, शारीरिक, मानसिक एवं साहजिक अर्थात् विषयवांछा आदि के तीव्र दु:ख निरंतर भोग रहा है। चैतन्यस्वभाव शांति एवं परमात्मपद से परिपूर्ण है; उस ओर उन्मुख होकर जिनभावना भाये तो दु:खों का नाश हो। चैतन्य को चूककर अनेक प्रकार के विषयों की आकांक्षा करता है किन्तु इष्ट विषय तो प्राप्त होते नहीं है, इसलिये आकुलता के कारण दु:खी होता है। अंतरोन्मुखता में ही सुख है। राजा भी सुखी नहीं हैं; सुखी तो संत-धर्मात्मा-मुनिवर हैं। जिन्होंने जिनभावना से सम्यग्दर्शनादि प्रगट किये हैं, वे ही इस जगत में सच्चे सुखी हैं। इसलिये हे भाई! अब तो तू जिनभावना भा, कि जिससे तेरे भव दु:ख का अन्त आ जाये।

कभी सुरलोक में देव हुआ, तब भी इस जीव ने अनेक प्रकार के मानसिक दु:ख उठाये हैं। आचार्यदेव कहते हैं कि—हे महाजस! स्वर्ग में भी चैतन्य की भावना के बिना मात्र दु:ख ही है। छोटा देव हो तो अन्य महान ऋद्धिधारी देवों को देखकर अंतर में ईर्षा-द्वेष के कारण जलता है;

अप्सरा आदि का वियोग होने पर दु:खी होता है। शुद्धभाव-सम्यग्दर्शनादि प्रगट किये बिना द्रव्यलिंगी साधुपने का पालन करे और स्वर्ग में जाये वहाँ भी यही स्थिति है... विषयों का लोलुपी होकर दु:ख में झूलता है... चैतन्य में झूलनेवाले संत ही सुखी है।

हे जीव! द्रव्यलिंगी मुनि होकर भी जो कांदर्पि आदि अशुभ भावनाएँ भाता है और सम्यक्त्वादि की भावना नहीं भाता, उसे भावों की पहिचान ही नहीं है... तो धर्मभावना के बिना वह संसार में ही परिभ्रमण करेगा। जो द्रव्यलिंगी होकर भी ईर्षा आदि अशुभ भावनाएँ करते हैं, वे ढोल (बाजे) बजानेवाले हलके देव-व्यंतर-भूत आदि होकर संसार में भटकते हैं।

मुनिवेष धारण करके भी जो जीव चैतन्य की दरकार नहीं करता, धर्म भावना नहीं जानता और मकान बनाकर रहता है, मठ की स्थापना करता है, उसे पार्श्वस्थ कहते हैं... वह कुसाधु है। और जो जीव, साधु नाम धारण करके तीव्र कषाय के आधीर होकर व्रतादि से भ्रष्ट होता है, संघ में दूसरे मुनियों तथा धर्मात्माओं का अनादर करता है, वह कुशील है। साधु नाम धारण करके जो ज्योतिष-वैदिक मंत्रविद्या आदि साधन से आजीविका करता है, राजा का सेवक बनकर राजनीति में उतरता है, उसे संसक्त कहते हैं। जिनसूत्र से विरुद्ध वर्तन करे, चारित्र से भ्रष्ट होकर वर्ते—ऐसे आलसी भ्रष्ट साधु को अवसन्न कहते हैं और गुरु की आज्ञा का उल्लंघन करके, स्वच्छंदतापूर्वक अकेला विचरे, जिन आज्ञा का लोप करे—ऐसे वेषधारी साधु को मृगाचारी कहा जाता है;—ऐसे पाँच प्रकार के कुसाधु सम्यग्दर्शनादिरूप जिनभावना से भ्रष्ट होकर अशुभ भावनाएँ भाते हैं, वे दु:ख को ही प्राप्त होते हैं। साधुवेष धारण किया; इसलिये कहीं जिनभावना के बिना सुखी हो जाये—ऐसा नहीं होता। सम्यग्दर्शन के बिना अनंतबार ऐसे भेष धारण किये किन्तु भव का अंत नहीं आया। सम्यग्दर्शनादि की आराधना के बिना देव हुआ, तब भी महाऋद्धिवान देवों को देखकर मन में महादु:खी हुआ। चैतन्यऋद्धि का माहात्म्य नहीं जाना और स्वर्गादि के वैभव में मूर्च्छित होकर अत्यन्त मानसिक दु:ख प्राप्त किया। यह तो बाहर के व्यक्त दु:खों का वर्णन है; किन्तु अंतर में आकुलता के कारण मात्र विकार का ही वेदन करता हुआ अज्ञानी जीव भी दु:खी ही है। जहाँ सुखसागर आत्मा की ओर वृत्ति नहीं है, वहाँ दु:ख ही है—भले ही संयोग अनुकूल हों या प्रतिकूल हों।

पुनश्च, मुनि होकर तपश्चरणादि करने पर भी चार प्रकार की विकथा से निम्न कोटि का कुदेव होता है। विकथा तो पाप है; किन्तु व्रत-तप के कुछ शुभभाव साथ होने से कुदेव हुआ।

चैतन्य की वीतरागी कथा का तो रस नहीं है और स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा या भोजनकथा में रसपूर्वक वर्तता है। वह भले ही मुनि होकर व्रतादि का पालन करे, तथापि हलका देव होकर, दु:ख को ही प्राप्त होता है। अरे जीव! चैतन्य की महत्ता को ही भूलकर तू आहारादि की तुच्छ कथा में कहाँ पड़ा है?

पुनश्च, मुनि होकर भी चैतन्य को भूलकर देहबुद्धि से जातिमद, कुलमद, रूपमद, ज्ञानमद—ऐस अनेक प्रकार के अभिमान में वर्ते और ऐसे अभिमान सहित तपश्चरणादि करे तो निम्न जाति के देवों में जन्म लेता है और वहाँ भी ईर्षा से आकुल-व्याकुल होकर दु:खी ही होता है।

धर्मात्मा स्त्रीवेद का छेदन करके बड़ा देव या इन्द्र होता है और अज्ञानी बड़ा त्यागी होकर भी निम्न कोटि का देव होता है। वहाँ ईर्षा से जलता है। देव की आयु पूर्ण होने पर माता के गर्भ में बहुत काल तक रहकर महादु:ख प्राप्त करता है। उन दु:खों से छूटने के लिये हे जीव! तू सम्यग्दर्शनादि भावों को पहिचानकर उसकी भावना कर... शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप ऐसा जो तेरा आत्मा, उसके सन्मुख होकर जिनभावना भा! निजभावना ही जिनभावना है; क्योंकि—'जिनपद निजपद एकता, भेदभाव नहि कांई।' जैसा शुद्ध-जिनपद है, वैसा ही शुद्ध निजपद है; उसकी भावना से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप भाव प्रगट होता है और उसी से भव-भव के दु:खों का अन्त आकर परमसुख की प्राप्ति होती है। इसलिये आचार्य भगवान पुन: पुन: उपदेश देते हैं कि—हे जीव! तू जिनभावना भा!—स्वसन्मुख होकर शुद्धात्मा की भावना भा!

अरे जीव! संसार में नये-नये जन्म धारण कर-करके, नई-नई माताओं का तूने इतना दूध पिया कि जो समुद्र के पानी से भी अधिक हो! शूकर के जन्म में शूकरी का दूध पिया; सिंह के जन्म में सिंहनी का दूध पिया, हाथी के जन्म में हथिनी का दूध पिया, गधे के जन्म में गधी का दूध पिया और मनुष्य जन्म में अपनी माता का दूध पिया... इस अनंत अवतारों में अनंत समुद्र भर जाएँ इतना दूध तूने पिया है। एकमात्र जिनभावना के बिना जीव ने यह अवतार धारण किये हैं।

जन्म लेकर जननी का दूध पिया और मरकर उसे रुलाया। मर-मरकर माताओं को इतना रुलाया कि—जिनके आँसुओं से अनंत समुद्र भर जायें। अरे, आत्मा की भावना के बिना तूने ऐसे अनंत जन्म-मरण किये हैं। बचपन में बालक का विरह होने पर माता रुदन करती है—श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न को बचपन में कोई विद्याधर उठा ले गया था। उसके विरह में उसकी रुक्मिणी ने खूब रुदन किया... प्रद्युम्न तो मोक्षगामी जीव था; किन्तु अज्ञानदशा में जीव ने अनंत बार माताओं

को रुलाया है कि जिनके आँसुओं से समुद्र भर जायें। और स्वयं भी अनंत बार ऐसे दु:ख सहन किय हैं।

और हे जीव! इस संसार में अज्ञान से परिभ्रमण करते हुए तूने इतने शरीर धारण किये हैं कि जिनके नख-केशों का ढेर अनंत मेरु पर्वतों जितना हो। अज्ञानपूर्वक ऐसे अवतार धारण किये, इसलिये जब जिनभावना भा!—तेरे हित का अवसर आया है। अपने चैतन्य को भूलकर तूने जल में और थल में, पर्वत में और अग्नि में, वनस्पति में और वायु में—इस प्रकार सर्वत्र अनंत बार वास किया है... जन्म-मरण किये हैं। अरे जीव! ऐसे-ऐसे अनंत अवतारों में से पार होने पर भी तू ज्यों का त्यों ही है; अपनी नित्यता के सन्मुख दृष्टि तो कर! नित्यता को देखने पर अनित्य शरीर के प्रति अहंभाव छूट जायेगा।

और हे जीव! इस जगत के भव-भव में भटकते हुए तूने सर्व ग्राह्य पुद्गलों का पुन: पुन: अनंत बार ग्रहण किया; तीन भुवन के उदर में विद्यमान सर्व पुद्गलों को तूने अपने उदर में उतारा—पुन: पुन: अनंत बार उनका उपभोग किया, तथापि तृप्ति न हुई.... और तृषा से पीड़ित होकर तूने तीन लोक के सर्व जल का पान किया, तथापि तेरी तृषा शांत न हुई! इसलिये अब तू संसार का मंथन करने के लिये निश्चयरत्नत्रय का चिंतवन कर! निश्चय-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के सेवन से तेरी अनंतकालीन क्षुधा शांत होगी; चैतन्यजल से अनंतकालीन तृषा बुझ जायेगी। तेरे दु:ख देखकर आचार्यदेव दयापूर्वक बारम्बार उपदेश देते हैं कि—हे भाई! ऐसे दु:खों से छूटने के लिये तू मुक्ति का उपाय कर... अर्थात् निश्चयरत्नत्रय का सेवन कर... चैतन्योन्मुख होकर जिनभावन भा!

एकत्व चिदानन्दभाव की भावना इस जगत में सर्वत्र सुन्दर है। उस एकत्वस्वभाव को भूलकर मिथ्या भावना से भवबंधन में पड़े हुए जीव ने दु:ख से इतने आँसू गिराये हैं कि उनके अनंत समुद्र भर जायें! उसका दु:ख देखकर दूसरों के जो आँसू गिरे उनसे भी अनंत सागर भर जायें! **इसलिये अरे जीव! अब ऐसे भव-भव के दु:खों से छूटने के लिये तू अपने एकत्व स्वभाव की भावना भा! जगत के आहार तूने अनंतबार किये किन्तु अनाहारी आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद कभी नहीं चखा। जगत के जल तूने अनंत बार पिये, किन्तु चैतन्य के शांतरस का पान कभी नहीं किया। अब तो अपने चैतन्य का स्वाद ले!—**

"कहे विचक्षण पुरुष सदा मैं एक हूँ

अपने रस में भर्यो अनादि टेक हूँ;
मोह करम मम नहीं, भ्रम रस कूप है,
शुद्ध चेतनासिन्धु हमारो रूप है।''

विचक्षण अर्थात् भेदज्ञानी होकर अपने शुद्धचेतना समुद्र में डुबकी लगा और चैतन्य के निजरस का स्वाद अनुभव में ले। तूने अपने अनुभव के रस को नहीं चखा और आकुलता के ही रस का उपभोग किया; इसलिये अब तो अंतर्मुख होकर, शुद्धात्मा की भावनारूप जिनभावना भा!—जिससे अनंतकालीन दु:खों का अंत आये और चैतन्य के परमानन्द की प्राप्ति हो!—ऐसा भगवान आचार्यदेव का उपदेश है।

पाँच रत्न

श्री प्रवचनसार की अंतिम पाँच गाथाएँ मुख्य सारभूत होने से आचार्यदेव ने उन्हें पाँच रत्न कहा है; उन पर पूज्य गुरुदेव के पाँच सुन्दर प्रवचन

(श्री प्रवचनसार गाथा २७१ से २७५)

आचार्यदेव कहते हैं कि—शास्त्र के मुकुटमणि समान यह पाँच निर्मल रत्न जयवंत वर्तो!

प्रवचनसार की अंतिम गाथाओं को आचार्यदेव ने 'पाँच रत्न' कहा है; कैसे हैं वे पंचरत्न?—शास्त्र की कलंगी के अलंकार समान हैं, संक्षेप में कहा जाये तो भगवान अरहंतदेव के समस्त शासन को प्रकाशित करनेवाले हैं और संसार तथा मोक्ष की भिन्न-भिन्न स्थिति को जगत के समक्ष प्रगट करते हैं। संसार का मार्ग तथा मोक्ष का मार्ग—इन दोनों की विलक्षण स्थिति को ये पाँच रत्न प्रकाशित करते हैं।—ऐसे यह निर्मल पंचरत्न (गाथा २७१ से २७५) जयवंत हों!

उत्तमवस्तु को रत्न कहा जाता है। जो जल में श्रेष्ठ हो उसे जलरत्न कहा जाता है, उत्तम पुत्र को पुत्ररत्न कहा जाता है; उसीप्रकार इन पाँच उत्तम सूत्रों को पंचरत्न कहा है। रत्न की भाँति उनका प्रकाश संसार एवं मोक्षमार्ग को स्पष्टरूप से प्रकाशित करता है। संसार का मार्ग क्या है और मोक्षमार्ग क्या है ?—वह स्पष्टरूप से बतलाकर जीवों को मोक्षमार्ग में लगाता है। संसारतत्त्व को जयवंत नहीं कहते, किन्तु संसारतत्त्व का स्वरूप बतलानेवाला यह सूत्र तथा उसका सम्यग्ज्ञान जयवंत हो!

सिद्ध भगवान तीन लोक के चूड़ामणि हैं, उसीप्रकार यह पाँच गाथाएँ इस प्रवचनसार शास्त्र की कलगी का अलंकार-चूड़ामणि है। (१) संसार तत्त्व क्या, (२) मोक्ष तत्त्व क्या, (३) मोक्ष का साधन तत्त्व, (४) मोक्ष के साधनरूप जो शुद्धोपयोग वही मोक्षार्थी के सर्व मनोरथ का स्थान है और (५) शास्त्र का फल जो ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की प्राप्ति—इन सब का स्वरूप प्रकाशित करनेवाले यह पाँच रत्न जयवंत वर्तो!

अब क्रमशः उस प्रत्येक तत्त्व का स्वरूप प्रकाशित करते हैं:—

प्रथमरत्न—(गाथा २७१)

संसारतत्त्व का स्वरूप प्रकाशित करता है

अयथागृहीतार्थां एते तत्त्वमिति निश्चिताः समये।
अत्यंत फलसमृद्ध भ्रमन्ति ते अंतःपरं कालम्॥२७१॥

अर्थ—चाहे वो द्रव्यलिंगी रूप से जिनमत में हो तो भी, ऐसा ही तत्त्व है, इसप्रकार मिथ्या निश्चयवंत वर्तते हुए पदार्थों को जैसा नहीं वैसा समझता है। वे अनंत कर्मफलों से भरे ऐसे भविष्यत काल में भ्रमण करेंगे।

जो जीव व्यवहार से जैनशासन में स्थित हो, द्रव्यलिंगी होकर पंच महाव्रतादि का पालन करता हो, किन्तु अंतर में अज्ञान के कारण तत्त्वों की विपरीत श्रद्धा करता हो, वह जीव मिथ्याश्रद्धा के कारण दीर्घकाल तक संसार में परिभ्रमण करेगा।

संसारमार्ग का अगुवा कौन ? संसारतत्त्व में सबसे बड़ा कौन ? तो कहते हैं कि—द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि साधु तो संसारतत्त्व ही है। कैसा है वह ? स्वयं अविवेक से उसने पदार्थों को अन्यथा ही

अंगीकार किया है, विपरीत दृष्टि से पदार्थों का स्वरूप विपरीतरूप ही समझता है; अपना अभिप्राय ही विपरीत होने से वह शास्त्रों के आशय को भी विपरीतरूप से ही ग्रहण करता है; भगवान का तथा श्रुतज्ञानी संतों का अभिप्राय भी वह अविवेक के कारण विपरीत ही ग्रहण करता है; स्वयं अविवेक के कारण उस पर मिथ्यात्व की मुहर लगी है; विपरीत दृष्टि के कारण 'यह तत्त्व ऐसा ही है,' इसप्रकार मिथ्या निश्चय द्वारा अतत्त्वश्रद्धा को दृढ़ करता है। यह सब किसी पर के कारण नहीं होता किन्तु वह जीव स्वयं अविवेकी होने से और महा मोहमल से मलिन है, इसलिये विपरीतरूप से पदार्थों का स्वरूप मानकर अतत्त्वश्रद्धान करता है। ऐसे जीव भले ही द्रव्यलिंगी मुनि होकर जिनशासन में स्थित हों, तथापि वे संसारतत्त्व ही हैं। वे श्रमण नहीं किन्तु श्रमणाभास हैं। संसारतत्त्व अर्थात् समस्त मिथ्यादृष्टि जीव कैसे होते हैं, उस पर यह गाथा रत्न प्रकाश डालता है। इसप्रकार विपरीत मान्यता जिसका मूल है—ऐसे संसार तत्त्व का स्वरूप बतलाकर उससे छुड़ाते हैं। स्वयं अविवेक से विपरीत श्रद्धा को इतना दृढ़ कर लिया है कि उसमें सन्देह नहीं करता; 'यह ऐसा ही है' इसप्रकार निश्चय किया है, उसने महामोहमल को इकट्ठा किया है; शास्त्रपठन करे तो उसमें सभी विपरीत दृष्टि के कारण मोहमल को ही एकत्रित करता है। ऐसे जीव व्रत-तप करते हों, संयम का पालन करते हों, तथापि मिथ्या-अभिप्राय के कारण अनंत काल तक अनंत भावान्तर करके भवभ्रमण में भटकते रहेंगे; इसलिये उन्हें संसारतत्त्व ही जानना। वह द्रव्यलिंगी श्रमण हुआ; इसलिये संसारतत्त्व से किंचित् बाहर निकला होगा—ऐसा संदेह नहीं करना चाहिये। यह सूत्ररत्न उस पर स्पष्टतया प्रकाश डालता है कि वह भी संसारतत्त्व ही है। उसमें धर्म या मोक्षमार्ग का अंश भी नहीं है। इसलिये जिसे वास्तव में संसारतत्त्व से छूटना हो, उसे यथार्थ-तत्त्व का निश्चय करके विपरीत अभिप्रायरूप मोहमल को नष्ट करना चाहिये। अहो, इस रत्न द्वारा अमृतचन्द्राचार्य ने मिथ्यात्व का विष उतार दिया है।

अरे, अविवेकी विपरीत दृष्टिवाले जीव मोहमल से मलिन मनवाले हैं, वे जगत के एक परमाणु को भी विपरीत दृष्टि में से नहीं छोड़ते; परमाणु को भी पराधीन मानते हैं। अरे, तीन लोक के नाथ सिद्धपरमात्मा को भी बाकी नहीं रखते! सिद्ध भगवन्तों को भी कालद्रव्य के निमित्त से परिणमना पड़ता है और निमित्ताभाव के कारण लोकाग्र में रहना पड़ा है—प्रकार वे उन्हें भी पराधीन मानते हैं लेकिन क्या किया जाये! अपनी दृष्टि में ही जहाँ पराधीनता है, वहाँ सारा जगत-सिद्धपरमात्मा या परमाणु-पराधीन भासित होते हैं। विपरीत दृष्टिरूपी कुठार द्वारा पिता और

पितामह ऐसे संत और सर्वज्ञों के अभिप्राय का वह घात करता है। वह जीव विपरीत अभिप्राय के कारण अनंत जन्म-मरण करके संसार में भटकेगा, इसलिये उसे संसारतत्त्व जानना। जहाँ-जहाँ ऐसा विपरीत अभिप्राय हो, वहाँ-वहाँ संसारतत्त्व जानना। जगत का कोई भी जीव हो, किन्तु यदि ऐसे विपरीत अभिप्राय सहित हो तो वह संसारतत्त्व ही है—ऐसा समझना। वह श्रवण-पठन-मनन या संयम कुछ भी करे, किन्तु उनमें विपरीत मान्यतारूपी विष घोलकर ही करता है; ऐसे जीवों को स्वरूप में रमणतारूप श्रमणपना नहीं होता; वे श्रमणाभास हैं। चिदानन्द का अनुभव तो उन्हें है नहीं, इसलिये कर्मफल के उपभोग को ही भोगते हैं; कर्मफल के उपभोग से जो भयंकर है, ऐसे अनंत काल तक अनंत भावांतर रूप परावर्तन करनेवाले वे जीव बिलकुल अस्थिर परिणतिवान होने से उन्हें संसारतत्त्व ही जानना।

देखो, यह संसारतत्त्व! संसारतत्त्व कहीं बाह्य में नहीं है किन्तु मिथ्यात्व के कारण जीव अपने स्वरूप से संसरित होकर—हटकर—खिसककर बाह्य अस्थिर भावों में परिवर्तनरूप जो संसरण कर रहा है, वही संसार है। 'तत्त्वार्थसार' में श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव कहते हैं कि:—

'मिथ्यादृष्टि तो प्रसिद्ध हैं अर्थात् संसार हैं; और सम्यग्दृष्टि ईषत् सिद्ध अर्थात् किंचित् सिद्ध हैं, अर्थात् वे सिद्धपद के साधक हैं।'

रत्नत्रय की आराधना से पूर्ण मुनिराज सिद्ध हैं। यहाँ प्रवचनसार में भी वे कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि तो संसारतत्त्व है और रत्नत्रय के आराधक सम्पूर्ण श्रामण्यवान श्रमण वे मोक्षतत्त्व हैं। अहा, जो अप्रतिहतरूप से मोक्ष की साधना कर रहे हैं, उन्हीं को मोक्षतत्त्व कह दिया!

मोक्ष कहाँ रहता है?—कि संतों की शुद्धपरिणति में मोक्षतत्त्व रहता है। वह बात आचार्यदेव दूसरे रत्न में (गाथा २७२ में) कहेंगे।

यहाँ संसारतत्त्व का सबसे महान प्रतीक बतलाया है, उस पर से संसारतत्त्व को जान लेना चाहिये। संसारतत्त्व छोड़ने के लिये उसकी पहिचान कराई है और मोक्षतत्त्व प्रगट करने के लिये वह भी बतलाया है।

* मेरे आत्मा का स्वभाव तो चैतन्यसामर्थ्ययुक्त है।

* रागादि विभाव मेरे स्वभाव से विपरीत हैं।

✻ देहादि संयोग तो मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं;

—ऐसा यथार्थरूप से जो नहीं जानता, देहादि की क्रिया मैं करता हूँ—ऐसा मानता है, शुभराग से मोक्षमार्ग सधेगा—ऐसा मानता है, वह जीव, तत्त्वों की विपरीत मान्यता द्वारा सतत महामोहरूपी मैल को एकत्रित करता है, उसका मन मिथ्यात्वरूपी महामैल से मलिन है; इसलिये वह 'नित्य-अज्ञानी' है। 'नित्य-अज्ञानी' अर्थात् ऐसी विपरीत श्रद्धावाले जीव को व्यवहार का शुभराग करते-करते कभी-दीर्घकाल में भी सम्यग्ज्ञान प्रकट हो जायेगा, ऐसा नहीं है। जब तक अविवेक से विपरीत श्रद्धा करेगा, तब तक निरंतर वह अज्ञानी ही रहेगा और संसार में भटकेगा। वह जीव भले ही कदाचित् द्रव्यलिंगी साधु—जिसके वस्त्र का ताना भी नहीं होता—होकर जिनशासन में स्थिर हो, व्यवहार से सर्वज्ञदेव को ही मानता हो, कुदेव को न मानता हो, पंच महाव्रत का भलीभाँति पालन करता हो, तथापि शुद्धोपयोग के अभाव से सच्चा श्रामण्य प्राप्त नहीं हुआ है; इसलिये वह श्रमणाभास ही है और अभी भी संसारमार्ग में ही स्थित है।

देखो, उस श्रमणाभास को सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का तथा व्यवहारचारित्र का शुभराग है; वह शुभराग होने पर भी अरिहंतदेव के शासन में उसे संसारमार्ग में ही स्थित कहा है; अर्थात् अरिहंतदेव के शासन में शुभराग, वह मोक्षमार्ग नहीं है—ऐसा यह सूत्र प्रसिद्ध करता है। इस सूत्र से समझ लेना चाहिये कि जब तक जीव सम्यक् तत्त्वश्रद्धान करके सम्यग्दर्शन प्रकट न करे, तब तक अन्य चाहे जितना करने पर भी वह संसारमार्ग में ही है। मिथ्यादृष्टि ने मुनि का द्रव्यलिंग धारण किया हो तो उससे धोखे में नहीं आना चाहिये कि—यह जीव मोक्षमार्ग में स्थित होगा। अथवा इतना-इतना करने से उसे किंचित् तो धर्म होता होगा!—नहीं, नहीं, वह तो संसारमार्ग में ही है।

संसारतत्त्व पाँच भावों में से किस भाव में आता है?—संसारतत्त्व औदयिकभाव में आता है; और नवतत्त्वों में से पुण्य-पाप-आस्रव तथा बंध, यह चारों तत्त्व संसारतत्त्व हैं। यहाँ तो कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि श्रमणाभास को संसारतत्त्व ही जानना; मिथ्यात्व ही मूल संसार है। पं० बनारसीदासजी ने 'नाटक समयसार' में स्पष्ट कहा है कि:—'प्रगट हो कि मिथ्यात्व ही आस्रव-बंध है और मिथ्यात्व का अभाव अर्थात् सम्यक्त्व संवर-निर्जरा-मोक्ष है।' मिथ्यात्व में से जो बाहर निकला, वह संसारतत्त्व में से बाहर निकला। सम्यक्त्व के बिना भले ही घरबार छोड़कर

जंगल में वास करे, तथापि वह संसारतत्त्व से बाहर नहीं निकला है.... अंतर में संसार बसाकर ही बैठा है... जहाँ जाता है, वहाँ मिथ्यात्वरूपी संसार को अपने साथ ही ले जाता है। जिसप्रकार कड़वे चिरायते को शक्कर की थैली में भरने से वह मीठा नहीं हो जाता; उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि जीव द्रव्यलिंग धारण करे तो उससे कहीं वह संसारतत्त्व मिटकर मोक्षमार्गी नहीं हो जाता। जहाँ मिथ्यात्व है, वहाँ संसारतत्त्व ही है—ऐसा समझना।

अब संसारतत्त्व के सामने मोक्षतत्त्व क्या है ? यह बात आचार्यदेव २७२वीं गाथा में कहेंगे।

❀❀❀ ❀❀❀

द्वितीय रत्न—गाथा २७२

मोक्षतत्त्व का स्वरूप प्रकाशित करता है

अजधाचार विजुत्तो जधत्थपदणिच्छिदो पसंतप्पा।
अफले चिरंण जीवदि इह सो संपुण्ण सामण्णो॥२७२॥

अयथाचार वियुक्तो यथार्थ पदनिश्चितः प्रशान्तात्मा।
अफले चिरंन जीवति इह सः संपूर्ण श्रामण्यः॥२७२॥

सम्पूर्ण श्रामण्यवान साक्षात् श्रमण को मोक्षतत्त्व जानना;—वे श्रमण इस संसार में अधिक काल तक नहीं रहेंगे, अल्पकाल में ही मोक्षरूप से परिणमित होंगे, इसलिये उन श्रमण को मोक्षतत्त्व जानना। कैसे हैं वे श्रमण ? तीन लोक की कलगी समान निर्मल विवेकरूपी दीपक अर्थात् भेदज्ञान की निर्मल ज्योति का प्रकाश उनके प्रगट हुआ है; उस ज्ञान प्रकाश द्वारा पदार्थों के स्वरूप का यथार्थ निश्चय किया है, इसलिये उत्सुकता को दूर करके वे स्वरूप में स्थिर हुए हैं। अंतर्मुख होकर सच्चिदानन्द के महल में प्रवेश करके उसके अनुभव में ऐसे तृप्त-तृप्त हुए हैं कि उसमें से बाहर नहीं निकलते; स्वरूप मंथर हुए हैं, स्वरूप में स्थिर हो गये हैं; स्वरूप की प्रशांति में मग्न हुए हैं, इसलिये अब विभाव में जाने के लिये आलसी हैं; सुस्त हैं; चैतन्योन्मुख हुए सो हुए, अब कभी उसमें से बाहर निकलना ही नहीं है; इसप्रकार अंतर में स्थिर हो गये हैं; सतत् उपशांत वर्तते हैं, अकषायस्वरूप में लीनता है, वहाँ कषाय का अभाव है; इसलिये उपशमभाव का ढेर इकट्ठा होता जा रहा है; अज्ञानी के तो मोह का ढेर इकट्ठा होता है और उन मोक्षमार्गी मुनिराज को

स्वरूप के उपशमभाव का गंज-ढेर इकट्ठा होता है। और अयथाचार उनके दूर हुए हैं, अशुभ तो है ही नहीं तथा शुभवृत्ति जितनी उत्पन्न होती है, उतना अयथाचार भी दूर हुआ है; पुनश्च, वे श्रमण नित्यज्ञानी हैं, शुद्धोपयोगी होकर सतत् ज्ञानी वर्तते हैं, स्वरूप में ज्ञान का उपयोग ऐसा जमा है कि अब बाहर नहीं निकलेगा। ऐसे वे शुद्धोपयोगी श्रमण उत्कृष्ट साधकभाव को प्राप्त होने के कारण श्रामण्य से परिपूर्ण हैं, मोक्ष का उत्कृष्ट साधन उनके वर्तता है, इसलिये उन्हें मोक्षतत्त्व ही कह दिया है। उन शुद्धोपयोगी श्रमण ने पूर्वकाल के समस्त कर्मों को लीला मात्र से नष्ट किया है और नवीन कर्मों का वे बंध नहीं करते, इसलिये वे पुनः इस संसार में प्राणधारणरूप दीनता को प्राप्त नहीं होते। जो शुद्ध निर्विकल्प आनंद-रस का अतीन्द्रियभाव प्रगट हुआ, उसके अतिरिक्त अन्य भावरूप (विकारी) परावर्तन का उनके अभाव है और सादि-अनंत शुद्धस्वभाव में ही स्थिर परिणतिवान रहते हैं। ऐसे उत्कृष्ट श्रमण स्वयं ही मोक्षतत्त्व हैं। मोक्ष देखना हो तो ऐसे शुद्धपरिणतिरूप परिणमित शुद्धोपयोगी श्रमण को पहिचान। चैतन्य के आनन्द-समुद्र में डुबकी लगाकर उसकी थाह ली है—अंतर में परिपूर्ण एकाग्र होकर ठेठ तल तक पहुँच गये हैं; वे अब पुनः उस आनन्द में से बाहर निकलकर आकुलता में कभी नहीं आते; आकुलता के भाव और उसके फलस्वरूप जन्म-मरण करना वह कलंक है; अतीन्द्रिय चैतन्य को जड़ प्राण धारण करना पड़े, वह कलंक है, दीनता है। स्वर्ग का भव करना पड़े, वह भी दीनता है—कलंक है। जिन्होंने शुद्धोपयोग से उत्कृष्ट श्रामण्य प्रगट किया है, ऐसे रत्नत्रय आराधक उत्तम मुनिवर पुनः इस संसार में प्राण धारण नहीं करते; इस संसार में पुनः दूसरी माता वे नहीं करते; शुद्धता में से अशुद्धता में वे फिर कभी नहीं आते। बस, अब सादि-अनंत काल तक अनंत समाधिसुख में ही अवस्थित रहेंगे... अब उन्हें बंधन नहीं है—नहीं है। वाह! यहीं अपनी शुद्ध परिणति में मोक्षतत्त्व को उतारा है.... मोक्ष लेने के लिये कहीं अन्यत्र जाना पड़े, ऐसा नहीं है... जहाँ अंतर में उतरकर स्थिर हुए, वहाँ उन्होंने अपनी परिणति में ही मोक्ष को उतारा... इसलिये वे मोक्षतत्त्व हैं।

अहा, स्वरूप में स्थिर हुए मुनि को मोक्षतत्त्व ही कह दिया। मोक्ष प्राप्त करने के लिये जो बिल्कुल निकट वर्तते हैं, ऐसे मुनिवर धर्म में प्रधान हैं और उन्हें यहाँ मोक्षतत्त्व कहा है, क्योंकि अप्रतिहतरूप से स्वरूप में ऐसे स्थिर हुए हैं कि श्रेणी लगाकर केवलज्ञान लेकर मोक्ष ही प्राप्त करेंगे और पुनः संसार में जन्म धारण नहीं करेंगे।

मोक्षतत्त्व रूप से यहाँ 'सिद्ध' को न लेकर, जो अप्रतिहतरूप से अंतरस्वरूप में लीन हुए हैं और उसमें से अब बाहर नहीं निकलेंगे, ऐसे साधु को मोक्षतत्त्वरूप से लिया है। मानों अपनी

दृष्टि के समक्ष ही साधु, मुक्त होने की क्रियारूप परिणमित हो रहे हों—इसप्रकार उनका आचार्यदेव ने मोक्षतत्त्वरूप से वर्णन किया है। ऐसे साधु अतीन्द्रिय परम सुख का अनुभव करते-करते सहजमात्र में कर्म को नष्ट करके मोक्ष को साधते हैं।

अरे, मिथ्यात्व में स्थित द्रव्यलिंगी मुनि भी दुःखी ही हैं; दुःखी कहो या संसारतत्त्व कहो; तत्त्व का यथार्थ निश्चय न होने से वह अविवेकी है; उसके विवेकचक्षु नहीं खुले हैं। अहा! संसार के घोर दुःखों से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा आत्म रक्षा होती है; ऐसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करके जो स्वरूप में स्थिर हुए हैं... ऐसे स्थिर हुए हैं कि उसमें से बाहर निकलने के आलसी हैं... उसी में मग्न रहते हैं... प्रशांत होकर स्वरूप में जम गये हैं; इसलिये 'अयथाचरण' से अर्थात् रागादि से रहित हैं। वीतराग होकर शांत-निर्विकल्प रस को झेल रहे हैं, आनन्द के अनुभव में झूलते हैं, जहाँ व्यवहाररत्नत्रय का विकल्प भी नहीं है; निर्विकल्प होकर आत्मरस को पी रहे हैं, स्वरूप में एक में ही अभिमुख होकर वर्तते हैं;—इसप्रकार मुक्त होने की क्रियारूप से परिणमित होते हुए ऐसे साक्षात् श्रमण, वह मोक्षतत्त्व हैं। वे भव का अंत करके अब दूसरा शरीर धारण नहीं करेंगे; अभी केवलज्ञान प्रगट करके मोक्ष प्राप्त करेंगे।

मोक्षतत्त्व का साधन क्या है ?—उसे अब तीसरा रत्न (गाथा २७३) प्रकाशिकत करेगा।

(शेष अगले अंक में)

ज्ञानी को किस प्रकार पहचानें

(समयसार गाथा ७५ के प्रवचन में से)

आचार्य भगवान ने कर्ता-कर्म अधिकार के शुरु में ही बहुत पहलू द्वारा मार्मिकता से समझाकर आत्मा और आस्रवों का (स्व-स्वभाव और विभाव का) स्पष्ट भेदज्ञान करा दिया है। जो शिष्य उसीप्रकार समझकर भेदज्ञान प्रकट करके आस्रवों से पीछे हटकर निर्भयता से अपने विज्ञानघनस्वभाव में आरूढ़ हो गया है, ज्ञानस्वरूप होकर जगत का साक्षी हुआ है। ज्ञायकभाव पणे प्रकाशमान होकर ज्ञानी हुए हैं। ऐसे ज्ञानी धर्मात्मा को कैसे चिह्न से पहचानें? यह आचार्यदेव ७५वीं गाथा में बता रहे हैं।

देखो, इसमें ज्ञानी को पहचानने का ऐसा अलौकिक चिह्न आचार्यदेव ने बताया है कि उस चिह्न को जो जीव पहचाने, उसको खुद को भी भेदज्ञान हुए बगैर नहीं रहे। अहा हा! आचार्यश्री ने बड़ी अद्‌भुत शैली से ज्ञानी की पहिचान करायी है—

जो कर्म का परिणाम, अरु नोकर्म का परिणाम है।
सो नहिं करे जो, मात्र जाणे वो हि आत्मा ज्ञानि है॥७५॥

ज्ञानी का कार्य क्या है? ज्ञानभाव ही ज्ञानी का कार्य है। इसके सिवाय रागादिपरिणाम अथवा कर्म-नोकर्म के परिणाम, ये तो ज्ञानी के कर्म नहीं। ज्ञान कार्य द्वारा ही ज्ञानी पहिचाना जाता है। राग कार्यों से ज्ञानी को पहिचाना जाये तो वे पहिचाने नहीं जा सकते। दुनिया के जीवों ने ज्ञानी को पहिचानने का तरीका भी नहीं जाना। जिन्होंने खुद की आत्मा को राग से सर्वथा अलग ज्ञानस्वभावरूप ही अनुभव किया है, ऐसे ज्ञानी धर्मात्मा निर्मल ज्ञानपरिणमन के सिवाय और कोई रागादि परिणामों को स्वप्न में भी अपनाते नहीं हैं। राग की जिन्हें रुचि है, राग से अलग ज्ञान परिणाम की जिन्हें खबर नहीं, ऐसे अज्ञानी जीव, ज्ञानियों को किसप्रकार पहिचानेंगे? वे तो यही जानेंगे कि ज्ञानी राग को करते हैं। परन्तु राग के समय ज्ञानी का ज्ञान, राग से अत्यन्त भिन्न रूप ही परिणमित होता है और वह ज्ञानी, ज्ञान परिणाम को ही करता है, ऐसी पहिचान अज्ञानियों को नहीं होती। ज्ञान परिणाम है, वही ज्ञानी को पहिचानने का चिह्न है, उस चिह्न को पहिचाने तभी ज्ञानी पहिचाना जाता है, ऐसी पहिचान जो करे, वह स्वयं ज्ञानी हुए बगैर नहीं रहता। अर्थात् वह स्वयं ज्ञानी होता है।

राग और विकल्प से हटकर अंतरंग में स्वसंवेदना से शांत-निराकुल अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद जब आने लगे—अनुभव होने लगे—तब जीव ज्ञानी हुआ कहलाता है। क्षण-क्षण में वह जीव, आस्रवों से छूटता जाता है और विज्ञानघन होता जाता है। सबसे पहले वेदन के समय उत्पत्ति काल में तो नियम से निर्विकल्प शुद्ध उपयोग होता है। फिर वह निरंतर नहीं हो तो भी उसे आंशिक शुद्ध परिणति तो चालू ही रहती है। सम्यग्दर्शन के उत्पत्ति काल में शुद्धोपयोग का अविनाभावीपना है, परंतु सम्यग्दर्शन के साथ में निरंतर शुद्धोपयोग होता ही है, ऐसा कोई नियम नहीं; नहीं तो जब परतरफ उपयोग जाये, तब सम्यग्दर्शन ही नहीं रहता। सम्यग्दर्शन के साथ शुद्धोपयोग सदा ही होता हो, ऐसी बात नहीं है। परन्तु सम्यग्दर्शन के साथ शुद्ध परिणति तो सदा होती ही है।

आत्मा जब सम्यक् प्रकार से विज्ञानघन होता है, तभी आस्रवों से सम्यक् प्रकार से निवर्तता है। 'सम्यक् प्रकार से' ऐसा जो कहा है, वह सम्यग्दर्शनपूर्वक ज्ञान को बताता है अकेले ज्ञान के विकासमात्र से आस्रव रुकते-अटकते नहीं हैं; उसीप्रकार अकेले मंद कषाय से अशुभपरिणाम को रोकने से कोई विज्ञानघनता होती नहीं। अर्थात् जब जीव स्वभावसन्मुख होकर उसकी सम्यक् प्रतीति करता है, तब उसे आस्रवों और आत्मा का यथार्थ भेदज्ञान होता है, तब वह विज्ञानघन होता है और आस्रवों से अलग होता है। इसप्रकार एक क्षण में ही ज्ञान का अस्ति और आस्रवों का नास्तिरूप परिणमन त्याग ज्ञानी को वर्तता है, ऐसे परिणामों से ही ज्ञानी को पहिचाना जाता है।

अरे, जीव! आनन्दस्वरूप यह चैतन्यवस्तु अंदर में पड़ी है, उसकी महिमा तो कर—उसके अवलोकन के लिए विस्मय, कुतुहल और अद्भुतता तो कर। चैतन्य की महिमा लाकर जैसे-जैसे उसमें ज्ञान जमता जाता है, वैसे-वैसे आत्मा विज्ञानघन बनता जाता है। जितना विज्ञानघन बनता जाता है, उतना आस्रवों से छूटता जाता है, और जितना आस्रवों से छूटता है, उतना ही विज्ञानघन होता है। सम्यग्ज्ञान के पहले जीव को किंचित्मात्र भी आस्रवों से निवृत्ति कही नहीं जाती और किंचित्मात्र भी विज्ञानघनता कही नहीं जाती। फिर भले ही पंचमहाव्रतों का पालन किया जाता हो, हिंसा न करता हो, असत्य न बोलता हो, फिर भी अज्ञानी को अशुभ आस्रवों से पूर्ण निवृत्ति हो गई—ऐसे नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वह आस्रवों में ही वर्तता है। उसीप्रकार भले ही ११ अंगशास्त्र की पढ़ाई की हो तो भी अज्ञानी को विज्ञानघनता जरा भी नहीं हुई; अतः वह अज्ञानी ही है। जिन्होंने अभी आत्मा और आस्रवों के भेद को समझा ही न हो, दोनों के स्वाद की भिन्नता को जाना ही न हो, वह जीव आस्रवों से वापिस (दूर) कैसे होगा? अलग कैसे होगा? वह तो रागादि

के और ज्ञान के मिश्रित स्वादानुभव करता हुआ अज्ञानता से ही आस्रवों में ही वर्तता है—उसी में चक्कर लगाता रहता है। यह अज्ञानी को पहिचानने की निशानी-चिह्न है। वह अज्ञानी अनादिरूढ़ व्यवहारों में मूढ़ है और प्रौढ़ विवेकशाली निश्चय में अनारूढ़ है। ज्ञानी धर्मात्मा प्रौढ़ विवेक से शुद्ध निश्चय में आरूढ़ हुए हैं और व्यवहार-धर्म-का आश्रय छोड़ दिया है। व्यवहार के आश्रय से आत्महित मानने की श्रद्धा को छोड़ दिया है और चारित्र में जितना स्वाश्रय का बल बढ़ाता है, उतने अंश में पराश्रय-राग-व्यवहार छूटता जाता है और उतना विज्ञानघन होता ही है। देखो तो सही, ज्ञानी और अज्ञानी की अंतरंग परिणति में यह फरक कितना है ? एक तो शुद्ध ज्ञान में तन्मयता से परिणमता है और दूसरा रागादि परभावों में तन्मयता से परिणमता है। अंतर के वेदन में स्पष्ट अनुभव से-ज्ञान और राग की भिन्नता की प्रतीति होनी चाहिये, भाव भासन होना चाहिये, तभी भेदज्ञान और विज्ञानघनता होती है। यह 'भेदज्ञान' कोई विकल्परूप नहीं, उसमें निर्विकल्प श्रद्धा, स्व-सन्मुख ज्ञान और अंशतः स्थिरता, ये त्रिपुटी समा जाती है; शुद्ध निर्विकल्प रत्नत्रय को भी 'भेदज्ञान' कहा जाता है। हे जीव ! अंतर की शांत निर्विकल्प ज्ञान गुफा में प्रवेश तो कर, तुझे आनंद के वेदन सहित सम्यग्दर्शन और भेदज्ञान होगा।

जिसे ऐसा भेदज्ञान हो गया है, वह ज्ञानी धर्मात्मा तो आप अपने को अपने स्वसंवेदन से बराबर पहिचानता है कि मुझे महान ज्ञान प्रकाश प्राप्त हुआ है, अज्ञान दूर हो गया है; रागादि से चैतन्य का ऐसा भेदज्ञान प्राप्त हुआ है कि अब रागादि का अंशमात्र भी कभी मुझे मेरा स्वभावरूप दिखाई नहीं देगा। इसप्रकार ज्ञानी खुद का तो स्वसंवेदन से जानता है और सामने के-दूसरे जीव का भी निर्णय किया जा सकता है कि यह जीव रत्नत्रयरूप में परिणमित है। अतः वह जरूर-अवश्य भव्य ही है। 'धवला' में भी यह दृष्टांत दिया है। मतिज्ञान की निर्मलता की भी अचिन्त्य ताकत है। स्वतः की या अन्य की ज्ञानी-अज्ञानीपन की खबर न पड़े, ऐसा माने तो वह मूढ़ता-मूर्खता होगी। देखो तो ज्ञानी को जातिस्मृति होती है, तब उसे ख्याल आ जाता है कि इस शरीर में वर्तनवाला जीव पहिले मेरा संबंधी—रिश्तेदार था।—किसप्रकार यह मालूम हुआ ? पहिले का शरीर और इस समय का शरीर तो एकदम बदल गया है तो भी मतिज्ञान की निर्मलता में सामने के-दूसरे-जीव का निर्णय हो जाता है। क्योंकि यह जीव अमुक भव में-जन्म में-अमुक स्थान पर मेरा, संबंधी-रिश्तेदार था। देखो तो सही ज्ञान की निर्मलता की ताकत !! जातिस्मरण की भी इतनी ताकत, तो फिर-अंतर के-स्वसंवेदन से आत्मा का जो अनुभव हुआ, उसके निःशंक निश्चय की क्या बात !!

उसकी तो खुद को खबर-प्रतीति हो ही हो और फिर हो, उसीप्रकार वह औरों को भी पहिचान लेता है।

जिसप्रकार मिट्टी और मिट्टी के घड़े की एक वस्तुता होने के कारण उसको कर्ता-कर्मपना है परन्तु कुम्हार को और घड़े को एकवस्तुता न होने से उनका कर्ता कर्मत्व नहीं है। उसीप्रकार चैतन्यस्वभावी आत्मा की और उसके ज्ञानपरिणाम की एक वस्तुता होने से कर्ताकर्मपना है; परन्तु चैतन्यस्वभावी आत्मा को राग के साथ एक वस्तुता नहीं है, भिन्नता है। इससे उनको कर्ता-कर्मता नहीं है। रागादि को सचमुच शुद्धदृष्टि से आत्मा के साथ व्याप्य-व्यापकता नहीं है परन्तु पुद्गल साथ व्याप्य-व्यापकता है। विकार में कौन व्यापे ? विकाररूप किसका विस्तार होवे ? शुद्ध आत्मा कभी विकार में व्याप्त नहीं होता, शुद्ध आत्मा विस्तार पाकर-फैलकर विकार में जाये—ऐसा नहीं होता। शुद्ध आत्मा फैलकर-विस्तार पाकर खुद की निर्मल पर्याय में ही व्याप्त होता है। विकारों में शुद्ध आत्मा व्यापक नहीं; अतः शुद्ध आत्मा की दृष्टि में तो पुद्गल ही उसमें व्याप्त है। शुभराग-जिसे अज्ञानी व्यवहार कहते हैं और जिसे मोक्ष का साधन कहते हैं, उस शुभराग में शुद्ध आत्मा का तो अस्तित्व ही नहीं, उसमें आत्मा का अस्तित्व ही नहीं, उसमें आत्मा व्याप्त ही नहीं, तब वह मोक्ष का साधन किसप्रकार हो सकता है ?

यहाँ तो कहते हैं कि वह शुभराग आत्मा का कार्य ही नहीं, जो शुभराग को आत्मा का कार्य मानते हैं, वे अज्ञानी हैं। वह राग पर्यायदृष्टि से तो आत्मा की पर्याय में होता है, पर उसकी साथ में चैतन्यस्वभाव की एकता नहीं अर्थात् चैतन्यस्वभाव का वह कार्य नहीं। अहा..हा..! ऐसा चैतन्यस्वभाव जहाँ दृष्टि में लिया कि जीव मुक्त हुआ।

अहा हा! जिनवाणी माता चैतन्य की महत्ता के गीत गा कर चैतन्य को जागृत करती है। भाई! तू प्रभु, तुम सिद्ध हो, तुम शुद्ध हो, तुम बुद्ध हो, तुम अरहंत हो... इसप्रकार चैतन्य के गुणगान सुनते-सुनते आत्मा उल्लास से उल्लसित हो जागृत होती है। लौकिक भाषा में कहा जाय तो माता बालक के गुणगान गाकर उसे सुलाती है। यही लोकोत्तर श्रुति माता चैतन्य के शांत रस के प्रेम भीने गीत गाकर उसको जगाती है। जाग रे जाग! विभाव में अनादि काल से सोया हुआ है, वह विभाव तेरा स्वरूप नहीं, तेरा स्वरूप निर्विकार चैतन्यमय है। आत्मा के ऐसे गीत सुनकर कौन नहीं जगेगा ? कौन चैतन्य की तरफ नहीं झुकेगा ? सर्वज्ञ भगवंत और संत स्पष्ट भेदज्ञान कराकर विकार से भिन्न शुद्ध आत्मा को दिखाते हैं। विकार में तो पुद्गल ही है, विकार में आत्मा नहीं, किस दृष्टि से ? शुद्ध

आत्मा की दृष्टि से। शुद्ध आत्मा की तरफ जो झुका, उसका विकार का कर्तृत्वपना छूट गया। जो पर्याय शुद्ध स्वभाव की तरफ झुकी, वह पर्याय में से विकार का कर्तृत्व छूट गया; इसप्रकार का ज्ञान पर्याय ही ज्ञानी का कार्य है और ऐसे कार्य के द्वारा ही ज्ञानी की पहिचान है। यही ज्ञानी को पहिचानने का खरा चिह्न है। इसके सिवाय अकेले बाह्य चिह्नों से ज्ञानी पहिचाने नहीं जाते।

जहाँ पर्याय में चिदानंदस्वभाव की प्रसिद्धि हुई, वहाँ उसमें विकार की प्रसिद्धि न हुई। निर्मल पर्याय और आत्मस्वभाव की एकता हुई, उसके बीच में विकार का कोई स्थान न रहा अर्थात् विकार गया पर में, अत: उसको पुद्गल का ही कार्य कह दिया।

'वह राग पुद्गल का कार्य है,—जीव का नहीं'—सचमुच ऐसा कौन कह सकता है ? कि जो जीव विकार से अलग पड़कर, चिदानंदस्वभाव की सन्मुखता से निर्मल श्रद्धा—ज्ञानादि परिणाम का कर्ता हुआ है अर्थात् पर्याय में जिसका विकार का कर्तृत्व छूट गया है, ऐसे ज्ञानी धर्मात्मा, राग को पुद्गल का कार्य जानते हैं। अर्थात् वे राग में तन्मय होकर उसरूप नहीं परिणमता परंतु उससे अन्य प्रकार से परिणमित होकर उसका ज्ञाता ही रहता है। राग में तन्मयतापूर्वक वर्तते हैं।

जो जीव, राग और ज्ञान का भेदज्ञान भी नहीं करते और यों कहते हैं कि राग तो पुद्गल का कार्य है—तो उन्हें तो पर्याय का भी विवेक नहीं, इन्हें तो जड़ से भिन्नता का भी भान नहीं। यहाँ तो जो विवेकता से भेदविज्ञानरूप परिणमित हुआ, वह विकार का अकर्ता हुआ।—उसकी बात है।

अरे जीव ! पंचपरमेष्ठी पद में तू जिसका स्मरण करता है, वह पद तेरे में ही पड़ा है। तेरे चैतन्य का ही विकास होकर उसी में से पंचपरमेष्ठी पद खिलता है। यह कहीं बाहर से नहीं आते। धर्मी भी भगवान के पास भक्तिवश-यों गाते हैं कि—

हे वीर ! तुम्हरे द्वारे पर
एक दर्श भिखारी आया है....
औ शांति सुधारस भरने को
दो नयन कटोरे लाया है ॥

पर अंदर तो ज्ञान है—भान है। कि मेरा चैतन्य पद तो मुझ ही में है, वह कोई और दूसरा मुझे दे, यह संभव नहीं। अंतर में अपने चैतन्य के पास जाकर कहता कि हे नाथ ! मैं लोकोत्तर भीख माँगने तेरे पास आया हूँ। उत्कृष्ट ऐसा परमेश्वरपद माँगने को तेरे पास आया हूँ। मैं कोई बाह्य सामग्री माँगने, इन्द्रपद माँगने अथवा कोई राग माँगने तेरे पास नहीं आया हूँ। परन्तु मेरा

परमेश्वरपद माँगने को तेरे पास आया हूँ। देखो! यह लोकोत्तर दृश्य भिखारी! देखने योग्य भिखारी। अंतर्दृष्टि में तो वह बादशाहों का भी बादशाह है और चैतन्य स्वभाव के पास पूर्ण परमात्म दृशा रूपी भीख माँगता है। और खुद की आत्मा ही उसकी दाता है, इसका उसे भान है-ज्ञान है। अर्थात् आत्मा में अंतर्मुख एकाग्र होकर अल्प समय में पूर्ण परमात्मस्वरूप को प्राप्त करता है। अज्ञानी तो विकार में (मिथ्यात्व और शुभाशुभ आस्रव, मलिन भावों से) भीख माँगता है-याचना करता है कि हे शुभराग! तू मुझे धर्म में-धर्मकार्य में मदद कर! परन्तु विकारों में ऐसी शक्ति कहाँ? कि उसे निर्मल पर्यायरूप धर्म बख्शे, अर्थात् उसे कभी निर्मल दशा प्राप्त होती नहीं और उसकी याचना कभी मिटती नहीं ८४ के अवतार की भीख माँगता फिरता है।

पुद्गल परिणाम को अथवा रागादि विकारों को आत्मद्रव्य—आत्मतत्त्व के साथ कर्ता कर्मपना नहीं—ऐसा समझकर जो जीव आत्मतत्त्व की तरफ झुका, वह ज्ञानी हुआ और उसका ज्ञान परिणाम वह उसका कार्य (कर्म) हुआ।

धर्मी के ज्ञान परिणाम को पुद्गल कर्म के साथ अथवा रागादि के साथ कर्ता-कर्मपना नहीं, परन्तु वह ज्ञान, रागादिकों को जानता जरूर है। इसप्रकार रागादिकों को जाननेवाला ज्ञान उस ज्ञानी का कर्म है। इसप्रकार ज्ञानी खुद की आत्मा को ज्ञान परिणाम का ही कर्ता जानता है—मानता है। राग का कर्ता मैं नहीं हूँ। ज्ञान का कर्ता मैं हूँ। इसप्रकार ज्ञानी अपनी खुद की आत्मा को ही ज्ञानपरिणाम ज्ञानमय ही अनुभव करता है। इसप्रकार आत्माश्रित होते हुए जो निर्मल ज्ञानपरिणाम उसे ही जो अपने कर्म (कार्य) रूप करता है और इसके सिवाय अन्य कोई भावों को अपना करता नहीं, वही आत्मा ज्ञानी है। ऐसे पहचान करनी। ऐसे पहचान कर अपनी आत्मा में भी रागादि का कर्तृत्व छोड़कर निर्मल ज्ञान भावना का कर्तारूप में परिणति होना - ऐसा तात्पर्य है।

ज्ञानी धर्मात्मा के जो निर्मल आत्म परिणाम हैं, वे बंधन के निमित्त भी नहीं हैं। अर्थात् उसको कर्मों के साथ का निमित्त-नैमित्तिक संबंध भी टूट गया है। उनको परज्ञेयों साथ मात्र ज्ञेय -ज्ञायक संबंध है। अर्थात् ज्ञानी पुद्गल परिणाम को जानता जरूर है परन्तु वह पुद्गल परिणाम में व्याप्त नहीं होता, व्याप्त-व्यापकता सजात में होता है, विजात में नहीं। भगवान ज्ञाता का व्याप्य ज्ञानमय होता है, अज्ञानमय नहीं होता। कर्ता का जो कार्य है, वही उसका व्याप्य है। ज्ञाता का जो कार्य है, वही उसका व्याप्य है। ज्ञाता का कार्य क्या है? ज्ञानमय वीतरागी परिणाम, वही ज्ञानी का कार्य है। जो रागादि है, वही विरुद्ध भाव है। वह ज्ञाता का कार्य नहीं। विकल्प के कर्तापने से ज्ञानी

को देखे तो सचमुच कि वह ज्ञानी को पहचानता ही (जानता ही) नहीं। भगवान अमृतचंद्राचार्यदेव तथा भगवान कुंदकुन्दाचार्यदेव इस शास्त्र की रचना करते हैं। उसमें शब्दों की क्रिया के कर्तापने से या विकल्प के कर्तापने से उनकी आत्मा परिणमित नहीं होती, उनकी आत्मा भिन्न ज्ञानभावपने से ही परिणमित होती है। निर्मल ज्ञाता भाव में तन्मयपने ही उसकी आत्मा परिणमित होती है। ऐसे कार्यों से ही जो ज्ञानी को पहचानता है, तभी ज्ञानी धर्मात्मा की पहचान होती है। अज्ञानी को तो ऐसा मालूम होता है कि ज्ञानी, राग करता है। परन्तु भेदज्ञानी तो जानता है कि ज्ञानी का आत्मा, राग से भिन्न, ज्ञानभाव को ही करता है। ज्ञान से भिन्न कर्म-नोकर्म को या राग को अंशमात्र भी वह करता नहीं। ज्ञान और राग एक साथ दोनों दिखाई देते हैं, वहाँ अज्ञानी को उसमें कर्ता-कर्मपने का खुद में भ्रम उत्पन्न हो जाता है। किन्तु ज्ञान तो ज्ञाता है और राग तो ज्ञेयरूप ही है। वह कोई ज्ञान का कार्यपना से नहीं, ऐसी भिन्नता को अज्ञानी जानता नहीं; अतः राग के समय में ज्ञानी सचमुच ही क्या करता है, यह वह स्वयं भी नहीं जानता। अहा! राग के समय ज्ञानी का ज्ञान, राग से अधिक परिणमित हो रहा है। इसे जो जाने-पहचाने तो भेदज्ञान हो जाता है। ज्ञानी, राग को जानते समय भी राग को अपने ज्ञानपरिणाम से बाहर का बाहर ही रखते हैं। ज्ञान को राग से बिल्कुल अलग रखते हैं। ज्ञान की एकता-तादात्म्य-तो अंतर के चैतन्यस्वभाव ही से की है, वह स्वाभाविक एकता का परिणाम ज्ञानी से कभी छोड़ता नहीं है-छूटता नहीं है। और रागादि भावों के साथ कभी तादात्म्य होता नहीं। अहो! यह भेदज्ञान की महिमा है। भेदज्ञान के बल से यह ज्ञानी आत्मा ज्ञान के प्रकाश से चमकता हुआ चमचमाती और राग का अकर्तापने से शोभित होता है। उसका विस्तार ज्ञान ही में फैलता है-बढ़ता है, इसके सिवाय उसका और कहीं भी विस्तार नहीं होता। जगत से छूटापना समझकर ही ज्ञानस्वरूप में झुका हुआ है। अंतर में ज्ञानस्वभाव में झुका हुआ जीव, पर्याय में भी राग का अकर्तारूप से शोभित होता है। ज्ञानप्रकाश इस प्रकार खिला है कि अज्ञान अंधकार को नष्ट कर डाला हो। उसमें अब विकारों के साथ कर्ताकर्म की प्रवृत्ति की संभावना ही नहीं।

आत्मस्वभाव में तन्मय हुए ऐसे सम्यक्त्वादि परिणाम, वह आत्म परिणाम हैं, वह ज्ञानी का कार्य है। ज्ञानी स्वतंत्रता से उसका कर्ता है।

आत्मस्वभाव में तन्मय नहीं, ऐसे जो विकारी परिणाम, वे आत्म परिणाम नहीं, वह ज्ञानी का कार्य नहीं, ज्ञानी उसके कर्ता नहीं। विकारी परिणाम, वह आत्म परिणाम नहीं, इसलिये उन्हें पुद्गल परिणाम कह दिया। आत्मा के साथ जिनकी एकता न हो—तादात्म्यता न हो - उन्हें आत्मा

के परिणाम कैसे कहे जायें ? धर्मी खुद के धर्म परिणाम ही का कर्ता है; राग-विकारादि तो अधर्म परिणाम हैं, उसका कर्ता धर्मी-धर्म का करनेवाला—कैसे हो ? कदापि नहीं।

ज्ञान को और राग (विकार) को अतत्पना / भिन्नता है। जो ज्ञान है, वह राग नहीं है। जो ज्ञान है, वह राग नहीं तो ज्ञानी को राग का कर्तापना कैसे हो ? और राग, ज्ञानी का कार्य कैसे होय ? कदापि नहीं। आत्मा है, वह तो ज्ञान है और ज्ञान जो है, वही आत्मा है। इसप्रकार आत्मा को खुद के ज्ञान परिणाम के साथ तत्पना है। इससे ज्ञानी खुद के साथ ज्ञान परिणाम का ही कर्ता है और ज्ञान परिणाम ही उसका कर्म है। इसप्रकार ज्ञान परिणाम ही के साथ कर्ताकर्मपने का होना, यही ज्ञानी का चिह्न है और इसी से ज्ञानी पहचाना जाता है और जो जीव इसप्रकार ज्ञानी को पहचानता है, वह खुद भी ज्ञान और राग का भेदज्ञान करके ज्ञानी होता है।

लक्षपूर्वक एकाग्रता

मेरा ज्ञायकस्वभाव शांत-निर्दोष-आनन्दमय है। रागादि के आश्रय से उसका अस्तित्व नहीं है;—ऐसा यह आत्मा ही उत्तम, मंगल और शरणरूप है—सुखदाता है, उसकी दृष्टि (उसमें एकत्व की दृष्टि) के बिना अन्य किसी प्रकार कल्याण नहीं होता। अंतर्मुख अवलोकन करे, तभी असत्य का आग्रह छूटकर सत्य परमेश्वर ऐसे अपने आत्मा का अनुभव तथा आश्रय होता है।

जिससे कल्याण होता है, ऐसे अपने अतीन्द्रिय आत्मस्वभाव का लक्ष करके उसका पक्ष जीव ने कभी नहीं किया। और जिसके आश्रय से कभी कल्याण नहीं होता—ऐसे रागादि व्यवहार का पक्ष कभी छोड़ा नहीं है। इसलिये आचार्यदेव तथा अनंतज्ञानी कह गये हैं कि—हे भव्य! यदि तुझे हित करना हो, सुखी होना हो तो वह व्यवहार का पक्ष (पराश्रय से-निमित्त से लाभ मानने का पक्ष) छोड़ दे और अपने नित्य शरणभूत चैतन्यस्वभाव को स्वसंवेदन ज्ञान के लक्ष में लेकर उसमें एकाग्रता कर।

सत्पुरुष पू० श्री कानजी स्वामी जन्म जयंती महोत्सव

राजकोट (सौराष्ट्र) में दि० जैन संघ द्वारा पू० गुरुदेव की जन्म जयंती समारोह के लिये तथा स्वाध्याय मंदिर के उद्घाटन के लिये सोनगढ़ दि० जैन संघ सहित पू० गुरुदेव को आमंत्रण था। पू० स्वामीजी ता० २९-४-६२ को राजकोट पधारे, नगर को सजाकर भव्य स्वागत करने में आया, बाहर गाँव आमंत्रण पत्रिका भेजी थी, अत: मेहमानों की संख्या ६०० तक थी।

ता० २९ अप्रैल श्री मोहनलाल कानजी घीया प्रवचन हॉल का उद्घाटन हुआ, उसमें श्री समयसारजी तथा श्री प्रवचनसारजी (दो महान शास्त्रों का) पू० गुरुदेव के शुभहस्त से स्थापन हुआ। मंगलाचरण सहित उत्साह प्रेरक प्रवचन हुआ। ९ दिन तक दो बार प्रवचन, रात्रि चर्चा तथा जिनमंदिर में पूजन भक्ति का सुन्दर कार्यक्रम था। रात्रि को चर्चा में इतना रसास्वाद आता था कि एक घंटा कहाँ बीत जाता था, उसका पता नहीं लगता था।

ता० ४-५-६२ को वेदी सहित गंधकुटीवाले नये रथ में भगवान को विराजमान करके भक्तों द्वारा नृत्यगान भक्ति की धुन और अनेक शोभा सहित विशाल जन समूह सह रथयात्रा निकली थी। वह बहुत आकर्षक थी।

ता० ५-५-६२ पू० कानजी स्वामी की ७३ वीं जन्मजयंती महोत्सव मनाया गया था। इस अवसर पर बाहर गाँव से बड़ी संख्या में मुमुक्षु आये थे। सबेरे प्रभात फेरी, जिनेन्द्रपूजन बाद प्रवचन हुआ था। पं० प्रकाशचंदजी संपादक सन्मति संदेश (दिल्ली) जिन्होंने पू० कानजी स्वामी विशेषांक सचित्र जन्मजयंती अंक पृष्ठ १०० का प्रकाशित किया है, जिसमें भारत के खास विद्वानों, कवि, लेखकों द्वारा स्वामीजी को अभिनंदन दिया गया है तथा स्वामीजी का जीवन परिचय आदि दिया गया है, कई लेख खास महत्वपूर्ण हैं। वह अंक पं० प्रकाशचन्दजी द्वारा पू० स्वामीजी व प्रमुख श्री रामजीभाई आदि को भेंटस्वरूप दिया गया, बाद विद्वान वक्ताओं द्वारा स्वामीजी का उपकार माना गया तथा स्वामीजी द्वारा जो महान धर्म प्रभावना हो रही है, उसका विवेचन करते हुये स्वामीजी के खूब गुणानुवाद गाये।

श्री नवनीतभाई झवेरी (बम्बई) जो खास इस उत्सव में भाग लेने के लिये आये थे, उन्होंने समयसार (हिन्दी दूसरी आवृत्ति) जो दि० जैन मुमुक्षु मंडल (बम्बई) द्वारा प्रकाशित हुआ है, वह शास्त्र पू० गुरुदेव को अर्पण किया और सुन्दर धर्मप्रभावना में उत्साह प्रेरक वर्णन करके कहा कि

पू० गुरुदेव की ७२वीं जन्मजयंती बंबई में मनाई गई थी, तब जो आय हुई थी, उसमें से समयसारादि छपाकर बहुत कम कीमत में प्रचारार्थ देना, ऐसा निर्णय हुआ था। वह समयसार आज ७३वीं जन्मजयंती पर छपकर आ चुका है। बाद ७३×११=८०३ रु० श्री नवनीतभाई ने ज्ञानदान में दिया। इस जयंती में संस्था को जितने रुपये आये हैं, वह सब शास्त्रों का मूल्य घटाने के लिये उपयोग में लगाया जायेगा।

रात्रि में जैन बालकों द्वारा नाटक का उत्तम कार्यक्रम हुआ। जिसमें भरत का वैराग्य तथा श्रीराम व उनके पिता दशरथ तथा श्रेष्ठी, शास्त्री आदि द्वारा तत्त्वज्ञान चर्चा व सुन्दर संवाद हुआ।

पू० गुरुदेव के प्रवचन तथा रात्रि की चर्चा अत्यंत आकर्षक होने से राजकोट की जैन-जैनेतर समाज बारम्बार गद्‌गद् होकर पू० गुरुदेव को पुनः राजकोट पधारने की प्रार्थना करती थी, इसप्रकार राजकोट का दस दिन का कार्यक्रम अनेक विशेषताओं से आनंदमय रहा था।

सोनगढ़ (सौराष्ट्र) खास समाचार

ता० १३-५-६२ से जैन दर्शन शिक्षणवर्ग शुरु हुआ है। पू० स्वामीजी की छत्र छाया में १७५ की संख्या में शिक्षार्थी विद्यार्थियों ने लाभ लिया। जैन सिद्धान्त प्रवेशिका, प्रश्नोत्तरमाला, जैन तत्त्व मीमांसा, छहढाला, द्रव्यसंग्रह, बालपोथी आदि पढ़ाये जाते थे। उत्तर भारत के भाईयों की ज्यादा संख्या थी। देहली, अमृतसर, गुना, उदयपुर, खंडवा, सनावद, इन्दौर, दमोह, कुरावड, सागर आदि कई जगह से विद्यार्थी आये थे, आगामी श्रावण मास में भी जैन शिक्षण वर्ग चालू होगा।

वैशाख वद ६ ता० २५-५-६२ को समवसरण जैन मंदिर की प्रतिष्ठा का २१वीं साल का महोत्सव था। बड़ी रथयात्रा, जिनेन्द्र पूजन आदि कार्यक्रम द्वारा विशेषरूप से उत्साहपूर्वक यह महोत्सव मनाया गया।

स्वाध्याय मंदिर का उत्सव

ता० २७-५-६२ के रोज श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर (सोनगढ़) का तथा श्री समयसारजी

शास्त्र की स्थापना का २५ वां वार्षिक उत्सव था। शास्त्रजी को पालखी में रखकर जुलूस सहित गाँव में गाजेबाजे के साथ, भक्ति की धुन सहित घुमाकर स्वाध्याय मंदिर में शास्त्रजी की भक्ति तथा पूजन किया गया था।

★

जेठ सुदी ५ श्रुतपंचमी के दिन

हर वर्षानुसार श्री षट्खंडागम, कषायपाहुड़, महाबंध आदि शास्त्रों को सजाकर विशेष शोभायुक्त करके बीच में श्री धरसेनाचार्य श्री पुष्पदंत भूतबली आचार्य गिरनारजी में विराजते थे, वह दृश्य बनाया गया था और शास्त्रजी की विशेष पूजा की गयी थी।

सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी द्वारा श्री मोक्षमार्गप्रकाशक तथा श्री समयसारजी पर प्रवचन होता है।

दो शहर में नये जिनमंदिर का शिलान्यास उत्सव

[१] जोरावरनगर (सौराष्ट्र) बड़ा शहर है। यहाँ नये दि० जैन ७ घर हैं। ता० १६-५-६२ वैशाख सुदी १२ के दिन दि० जैन मंदिर का शिलान्यास श्री पोपटलाल मोहनलाल के शुभ हस्त से हुआ, बाहर गाँव से मेहमान ३०० की संख्या में आये थे। रथयात्रा, पूजनविधि, प्रवचन तथा भक्ति का सुन्दर कार्यक्रम था।

श्री अमुलख लालचन्द, प्रमुख जोरावरनगर
दि० जैन संघ

[२] दहेगाम (अहमदाबाद) - यहाँ वैशाख सुदी १२ श्री खीमचन्दभाई जेठालाल सेठ के शुभहस्त से दि० जैन मंदिर का शिलान्यास हुआ। श्री नवनीतभाई सी. झवेरी आदि अनेक भाई बम्बई से आये थे। बाहर गाँव के मेहमान ३०० थे। रथयात्रा, जिनेन्द्र पूजन, प्रवचन, प्रीतिभोज, तत्त्वचर्चा आदि कार्यक्रम तीन दिन रहा। विशेषता यह थी कि मंदिरजी के चंदा में जैनेत्तर भाईयों ने तथा श्वेताम्बर जैन भाईयों ने बड़े प्रेम से रुपया दिया। माननीय मनोज्ञ वक्ता श्री खीमंचदभाई का प्रवचन होने से उन सब भाईयों को जैनधर्म के प्रति खूब प्रेम हो गया।

—ब्र० गुलाबचन्द जैन

इन्दौर में पू० कानजी स्वामी का जन्मजयंती उत्सव

ता० ५-५-६२ दि० जैन मुमुक्षु मंडल तथा अन्य प्रतिष्ठित अग्रणी धर्म प्रेमियों के द्वारा यह ७३ वीं जन्म जयंती बड़े भारी उत्साह से मनाई थी, जिसमें श्री बाबूलाल पाटोदी, एम.एल.ए. की अध्यक्षता में खुद अध्यक्ष महोदय, तथा माननीय पं० श्री बंशीधरजी सिद्धान्त शास्त्री, पं० रतनचन्दजी, श्री कोमलचन्दजी वकील, जैन रत्न श्री इंदौरीलालजी बड़जात्या एडवोकेट, श्री चंपावती मोदी साहित्य रत्न, श्रीमान् सेठ माणिकचन्दजी सेठी आदि ने पू० कानजी स्वामी के उपकार के प्रति बहुत आभार प्रदर्शित करते हुये अत्यंत रोचक वक्तव्य दिया व अंत में सभी ने पू० स्वामीजी की दीर्घायु की कामना करते हुए (निम्न प्रकार) प्रस्ताव किया। (स्थल संकोचवश प्रस्ताव न दे सके)

—प्रकाशचंद पांड्या

★

मध्यप्रदेश की राजधानी भोपालनगर में

परम आध्यात्मिक सन्त आत्मार्थी सतपुरुष पू० कानजी स्वामी का ७३वाँ जन्म दिवस समारोह।

दिनांक ५-५-६२ को भोपालनगर में स्थानीय मुमुक्षु मंडल की ओर से आध्यात्मिक संत श्री कानजी स्वामी का जन्म दिवस तथा मुमुक्षु मंडल भोपाल का ५ वाँ वार्षिक स्थापना दिवस अत्यन्त उत्साह के साथ मनाया गया। प्रात: काल ६.०० बजे श्री दि० जैन मंदिर चौक में भगवान का कलशाभिषेक तथा पूजन सामूहिक रूप से की गई बाद में ७.०० बजे से शास्त्र प्रवचन (स्वाध्याय) सामूहिक रूप से। रात्रि को एक आम सभा का आयोजन किया गया। जिसमें श्री मिश्रीलालजी गंगवाल वित्त मंत्री मध्यप्रदेश, श्री प्रोफेसर जी.आर. जैन लश्कर, श्री शीलचन्द्रजी प्रिन्सिपल भेलसा कालेज ने भी भाग लिया। सर्व प्रथम सूरजमलजी जैन मंत्री श्री दि० जैन पंचायत कमेटी भोपाल ने परम उपकारी आध्यात्मिक संत पूज्य कानजी स्वामी के जीवन पर प्रकाश डालते हुये कहा कि पूज्य स्वामीजी ने वर्तमान समाज में धार्मिक क्षेत्र में एक विशेष क्रान्ति को जन्म दिया है। वर्षों से भूले हुये धर्म के वास्तविक स्वरूप को आज उन्होंने जिस प्रभावशाली रूप से दिग्दर्शन

कराया है, वह वास्तव में अद्वितीय है। जैनधर्म के गूढ़तम सिद्धांतों के रहस्य को इतने सरल रूप में प्रकाशित किया है कि आज समान बुद्धि वाले जीव भी रुचि होने पर सरल रूप से उनका ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं। अंत में आपने पूज्य श्री के चरणों में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की एवं उनकी दीर्घायु की कामना करते हुए कहा कि—आज इस समारोह के आयोजन का हमारा प्रमुख उद्देश्य यह है कि हम सबमें उनके द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों का तथा अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने की रुचि जागृत हो। इसके बाद श्री कुमारी रविकान्त देवी द्वारा कविता पाठ किया गया। वित्तमंत्री श्री गंगवालजी ने इस अवसर पर अपने महत्त्वपूर्ण भाषण में कहा कि श्रद्धेय कानजी स्वामी आज वास्तव में एक महान संत हैं। लोक को प्रभावित करने की उनमें एक अलौकिक शक्ति है। निरंतर स्वाध्याय के द्वारा अपने अज्ञान अंधकार को दूर करने का निश्चय करना ही सच्चे अर्थों में उनकी जयन्ती मनाना है। इस भवना के साथ आपने पूज्यश्री के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की। प्रिन्सिपल श्री शीलचंद्रजी ने अपनी सोनगढ़ यात्रा के संस्करण सुनाते हुए बताया कि आज सोनगढ़ एवं उसके आसपास के क्षेत्र में अपूर्व आध्यात्मिक वातावरण बना हुआ है। उस क्षेत्र के समस्त लोग चाहे वह किसी भी जाति अथवा संप्रदाय के हों, आज आत्मा के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने के लिये निरंतर आध्यात्मिक चर्चा में ही अपना समय व्यतीत कर रहे हैं। बाहर के जिज्ञासु यात्रियों के लिये भी जो उत्तम प्रबंध है, वह वास्तव में प्रशंसनीय है। अंत में श्री डालचन्दजी प्रमुख श्री दि० जैन मुमुक्षु मंडल भोपाल द्वारा आभार व्यक्त करने के पश्चात् कार्यक्रम समाप्त किया।

भवदीय—
सहेजमल जैन
मंत्री श्री दि० जैन मुमुक्षु मंडल भोपाल

[नोट–उत्तर भारत में सबसे अधिक और उत्तम ढंग से भोपाल दि० जैन मुमुक्षु मंडल के द्वारा तत्त्वज्ञान का प्रचार और प्रशंसनीय प्रसार हो रहा है, जिसकी अनेक गाँव में शाखायें हैं। विदिशा, इन्दौर, सीहोर आदि श्री डालचन्दजी, श्री सेजमलजी, श्री राजमलजी आदि कई अच्छे-अच्छे कार्यकर्ताओं का मेल होने से आप सब विशेष धन्यवाद के पात्र हैं।]

(देहली, गुना, कलकत्ता, बम्बई, दाहोद, मद्रास, अहमदाबाद, राजकोट, वींछिया, लाठी, जामनगर, पोरबन्दर आदि शहरों में बड़े उत्साह के साथ एकत्र होकर पूज्य कानजी स्वामी की जन्म जयंती मनाई गई है, जिसका विस्तृत वर्णन अलग-अलग छाप नहीं सकते हैं।)

दिल्ली में विशेष धर्म प्रभावना

पू० कानजी स्वामी की जन्म जयंती

दिल्ली ता० ५-५-६२ हर साल देहली में दि० जैन मुमुक्षु मंडल द्वारा पू० गुरुदेव श्री कानजी स्वामी की जन्म जयंती उत्सव मनाया जाता है, किन्तु इस साल माननीय, विशिष्ट वक्ता श्री खीमचंद भाई, जे० शेठ (सोनगढ़) के दिल्ली पधारने से खास जागृति और बहुत धर्म प्रभावना हुई। आप देहली में १३ दिन ठहरे थे। हमेशा प्रात:काल अलग-अलग जिन मंदिरजी में और रात्रि में श्री लालमंदिरजी में प्रवचन का कार्यक्रम रखा था। देहली जैन समाज ने बड़ी संख्या में बड़े प्रेम उत्साह के साथ लाभ लिया, शंका समाधान का समय भी था।

यहाँ इस साल पू० स्वामीजी की ७३ वीं जन्म जयंती बहुत धूमधाम से मुमुक्षु मंडल के तत्त्वावधान में श्री लालमंदिरजी में ता० ५ तथा ६-५-६२ को ला० राजेन्द्रकुमारजी जैन बेंकर्स (नई दिल्ली), श्रीमती कान्ता जयशीराम जैन फर्स्टक्लास मजिस्ट्रेस की अध्यक्षता में मनाई गई। जिसमें अपार जनसमूह आया, मंदिरजी को उत्तम ढंग से सजाया गया था, बड़ा भारी उत्साह रहा।

श्री खीमचन्दजी के पधारने से उत्सव की अद्‌भुत शोभा रही। आपके १३ दिन के प्रवचनों से यहाँ पर बड़ी भारी धर्मप्रभावना हुई। हमेशा श्रोताओं की उपस्थिति बड़ी संख्या में रहती थी। पूज्य कानजी स्वामी ने जैन धर्म, सम्यग्दर्शन तथा मोक्षमार्ग के स्वरूप पर अत्यंत स्पष्टरूप से जो प्रकाश फैलाया है, उसी का यह वर्णन देहली में प्रत्यक्ष सुनने वालों के हृदय में प्रेम-प्रसन्नता और बाह्य में परम हर्ष का स्थान बन रहा था।

देहली में ९ साल से तत्त्वज्ञान के प्रेमी मुमुक्षुओं द्वारा नियमित स्वाध्याय चलता है, मुमुक्षु मंडल के अनेक सदस्य हैं।

श्री सुरेन्द्रकुमारजी, नन्दराम सूरजमल, सिद्धोमलजी चावडी बाजार अध्यक्ष हैं।

दिल्ली में श्री दि० जैन मुमुक्षु मंडल की शाखाएँ—

१- मुख्य श्री दि० जैन मुमुक्षु मंडल नया मंदिरजी, ठि० २५१५,१ धर्मपुरा। २- करोल बाग, नई दिल्ली जैन मंदिर; ३- पहाड़ी धीरज, नई दिल्ली जैन मंदिर; ४- पहाड़गंज, नई दिल्ली जैन मंदिर; ५- शाहदरा, नई दिल्ली जैन मंदिर; ६- वैद्य वाड़ा, नई दिल्ली जैन मंदिर

निवेदक - श्रीपाल जैन

सेक्रेटरी-श्री दि० जैन मुमुक्षु मंडल, दिल्ली

विवेकी जीवों का स्वभाव

कीच सौ कनक जाकै नीच सौ नरेशपद,
मीच सी मिताई गरुवाई जाके गारसी;
जहर सी जोग-जाति कहर सी करामाति,
हहर सी हौस पुद्गल-छवि छार सी;
जाल सौ जग-विलास भाल सौ भुवनवास,
काल सौ कुटुम्ब काज लोकलाज लार सी;
सीठ सौ सुजसु जानै बीठ सौ वखत मानै,
ऐसी जाकी रीति ताहि बन्दत बनारसी।

अर्थ—कंचन को कीचड़ समान, राजपद को नीच पद समान, किसी से स्नेह अथवा लोगों की मित्रता को मृत्यु समान, बड़प्पन को लीपने की गार समान; योग को जहर समान; करामात (सिद्धि) आदि ऐश्वर्य को अशाता समान, लौकिक उन्नति अथवा जगत में पूज्यता होने आदि की रुचि को अनर्थ समान; गृहवास को बाण की नोक समान, कुटुम्ब के कार्य को काल (मृत्यु) के समान; लोकलाज अथवा लोक में लाज बढ़ाने की इच्छा को मुँह की लार के समान; सुयश अथवा कीर्ति की इच्छा को नाक के मैल के समान और पुण्य-भाग्योदय को जो विष्ठा समान मानते हैं (और परमार्थतः अपने शुद्धात्मतत्त्व को उत्तम, मंगल तथा शरणरूप नित्य मानते हैं;) उन्हें कविवर श्री बनारसीदासजी नमस्कार करते हैं।

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

पंचास्तिकाय	४ ॥)	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२ ॥)
नियमसार	५ ॥)	मोक्षशास्त्र बड़ी टीका सजिल्द	५)
मूल में भूल (नई आवृत्ति)	।।।)	सम्यग्दर्शन (तीसरी आवृत्ति)	१.८५)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)	छहढाला (नई टीका)	॥ ।–)
श्री अनुभवप्रकाश	॥)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह	
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)	कपड़े की जिल्द	१ ।=)
समयसार प्रवचन भाग १	४ ॥।)	अपूर्व अवसर	८५ न.पै.
समयसार प्रवचन भाग २	५ ॥)	भेदविज्ञानसार	२)
समयसार प्रवचन भाग ३	४ ॥)	अध्यात्मपाठसंग्रह	५)
प्रवचनसार	५)	समाधितंत्र	२ ।=)
अष्टपाहुड़	३)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
मोक्षमार्ग–प्रकाशक की किरणें प्र०	१ ।=)	स्तोत्रत्रयी	॥)
द्वितीय भाग	२)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥–)	'आत्मधर्म मासिक' लवाजम–	३)
द्वितीय भाग	॥–)	आत्मधर्म फाइलें १–३–५–६–	
तृतीय भाग	॥–)	७–८–१०–११–१२–१३ वर्ष	३ ।।।)
जैन बालपोथी	।)		

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।